॥

ओ३म्

भूमिका ।

ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक ये दश उपनिषदें अतिप्राचीन और सुप्रसिद्ध हैं । मुख्यतया इनही दशों की संगति लगाने के लिये बादरायण व्यास ने वेदान्त शास्त्र रचा है । श्रीशङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य प्रभृतियों ने इनकी इतनी प्रतिष्ठा की है कि इन दशों को साक्षात् वेद नाम से अपने अपने ग्रन्थों में पुकारते हैं और श्रुति के प्रमाण की जहां २ आवश्यकता होती है वहां २ इनके वाक्य दिखलाते हैं । श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जी भी इनही दशों को प्रमाणकोटि में मानगए हैं । इन दशों में भी बृहदारण्यकोपनिषद् अन्तिम है । अन्यान्य उपनिषदों की अपेक्षा इसकी आकृति भी बड़ी है, अतः इसका नाम बृहत् और अरण्य अर्थात् वनमें नियमपूर्वक इसका अध्ययन अध्यापन होता था अतः इसको आरण्यक कहते आए हैं । यजुर्वेद की यह उपनिषद् है । यजुर्वेद की अनेक शाखाएं हैं । उनमें से माध्यन्दिन और काण्व दो शाखाओं में यह उपनिषद् पाई जाती है । इन दोनों में किंचिन्मात्र पाठभेद है । श्री शङ्कराचार्य ने काण्व शाखा के पाठ के अनुसार ही भाष्य किया है । तबसे वही उपनिषद् सर्वत्र प्रचलित हुई । अभीतक जितनी उपनिषदें जहां कहीं छपी हैं वहां २ काण्व शाखा के अनुसार ही छपी हैं । अतः मैंने भी इसी का भाष्य किया है । यजुर्वेद का जो विख्यात शतपथ ब्राह्मण है उसके १४ वें और अन्यान्य काण्डों में यह विद्यमान है । इसके छः अध्याय हैं । प्रत्येक अध्याय में कई एक ब्राह्मण और ब्राह्मण में कई एक खण्ड होते हैं । इसके बनानेहारे कौन हैं यह अभीतक निर्णीत नहीं हुआ है, परन्तु ... याज्ञवल्क्य नामके ऋषि इसके रचयिता हैं ऐसा प्रतीत होता है । इसके ...

र्णय करना एक महादुष्कर कार्य है । हां, इसमें सन्देह नहीं कि वेदान्तशास्त्र वैयाकरणपाणिनि आदियों से बहुत पूर्व समय की यह उपनिषद् है ।

सामान्य-दृष्टि—उपनिषदों में से एक इसी में कर्म्म और ज्ञान दोनों काण्डों का वर्णन पाया जाता है । इनमें बहुतसी ऐसी बातें हैं जिनकी गन्ध भी अन्यान्य उपनिषदों में नहीं है इससे उस समय के सामाजिक, धार्म्मिक और राजकीय अवस्था के बहुतसे आचार विचार जाने जाते हैं । विचार की स्वतन्त्रता का प्रवाह बह रहा है । ब्रह्मज्ञान तो इसके मुख्य विषय हैं ही किन्तु आत्मोन्नति के साधन और आत्मा के गुण इसमें जितने कथित हैं प्रायः अन्यान्य उपनिषदों में उतने न मैं यहां दोचार उदाहरण अति संक्षेप से दिखलाता हूं क्योंकि इसकी भूमिक लघु लिखूंगा । श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि—हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि । हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता ॥ २१ ॥ हृदये ह्येव रेतः प्रतिष्ठितम् ॥ २२ ॥ हृ ह्येव सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥ २३ ॥ कस्मिन्नु वाक् प्रतिष्ठिता इति हृदये इति ॥ २४ ॥ बृ० उ० ३ । ९ । हृदय में ही रूप प्रतिष्ठित हैं हृदये में ही श्रद्धा, रेतः, सत्य और वाणी आदि प्रतिष्ठित हैं । यदि विज्ञान शास्त्रानुसार विचारा जाय तो निःसन्देह यही सिद्ध होता है कि सारी क्रियाएं हृदये में प्रतिष्ठित हैं। इन्द्रिय केवल लघु साधन हैं । दूसरे स्थान में कहते हैं कि "एष प्रजापतिर्यद्धृदयम्" एतद् ब्रह्म एतत्सर्वम् ॥ १॥ बृ० उ० । ५ । ३ । हृदय ही प्रजापति है अर्थात् सम्पूर्ण लौकिक वैदिक क्रियाओं का सृष्टिकर्ता यही हृदय है । यही ब्रह्म है अर्थात् इस मानव शरीर में इससे बढ़कर कोई पदार्थ नहीं यही सब है । पुनः कहते हैं—"सर्वासां विद्यानां हृदयमेकायनम्" ॥ २ । ४ । ११ ॥ सब विद्याओं का एक मुख्यस्थान यह हृदय है । इतना ही नहीं याज्ञवल्क्य कहते हैं "हृदये ह्येव सम्राट् सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति । हृदयं वै सम्राट् परमं ब्रह्म" ॥ ४ । १ । ७ ॥ हे सम्राट् जनक ! इसी हृदय में सर्व भूत प्रति हैं । हे सम्राट् ! यही परम ब्रह्म है अर्थात् महान् है । बुद्धिमान जन ही इस को समझ सकते हैं कि कैसा यह अद्भुत सिद्धान्त मनुष्यों के कल्याणार्थ प्रकाशित किया है । अतएव ऋषि कहते हैं—"स यथाऽऽर्द्रैधाग्ने रभ्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्ति एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्योपनिषदः णि अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि अस्यैवैतानि निश्वसि

। २ । ४ । १० ॥ गीली समिधाओं से यदि अग्नि प्रज्वलित किया जाय तो उसमें से जैसे पृथक् २ बहुतसे धूम निकलते हैं वैसे ही इसी महान् आत्मा का यह निश्वास है जो यह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वांगिरस (अथर्ववेद) इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान है । इसी महान् आत्मा के ये निश्वास हैं । इससे बढ़कर कौनसा सत्य सिद्धान्त हो सकता है । यदि मानवजाति में सबसे बढ़कर कोई त्रुटि है तो वह यह है कि वह अपने आत्मा को नहीं पहिचानता है अपने आत्माके गुण इससे मालूम नहीं, इसी प्रत्यक्ष आत्मा से सारी विद्याएं निकली हैं निकल रही हैं और निकलती जायंगी इस भेद को न जानकर मनुष्य मूढ़ बनरहा है । अत एव जब चाक्रायण उषस्तने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया कि साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म=महान् कौन है जो आत्मस्वरूप है और जो सर्व के अन्तर में है । याज्ञवल्क्य ने कहा "यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः । योऽपानेन अपानिति । यो व्यानेन व्यानिति इत्यादि । ३ ।४ । १ ॥ जो प्राण, अपान, व्यान और उदान आदि से जीवनयात्रा कररहा है वही अपरोक्ष महान् आत्मा है । ऋषि याज्ञवल्क्य ने इस मानव शरीर को बहुत ही पवित्र माना है प्रथम तो यह कहते हैं कि ये नयन, कर्ण, नासिका, जिह्वा आदि ऋषि हैं । २ । ३ । ४ ॥ पुनः कहते हैं कि यह वाणी अग्निदेव है । नासिका वायु देव है । नेत्र आदित्यदेव है । कान दिग्देव है । मन चन्द्रदेव है । १ । ३ । १२-१६ ॥ पुनः कहते हैं इनकी तृप्ति के लिये आहुति डालो यथा । ६ ३ । २ ॥ में देखो "ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहा । प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहा । वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहा । चक्षुषे स्वाहा सम्पदे स्वाहा । श्रोत्राय स्वाहा आयतनाय स्वाहा । मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहा" ज्येष्ठ श्रेष्ठादि शब्दों के अर्थ में किसी को सन्देह नहो अतः स्वयं उपनिषद् कहती है कि "प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च । वाग्वै वसिष्ठा । चक्षुर्वैप्रतिष्ठा । श्रोत्रं वै सम्पद् । मनो वै आयतनम् । ६ । १ । ६ ॥ पुनः इन इन्द्रियों को ब्रह्म नाम से अर्थात् अति महान् नाम से पुकारते हैं यथा—वाग्वै ब्रह्मेति । २ । प्राणोवै ब्रह्मेति । ३ । चक्षुर्वै ब्रह्मेति । ४ । श्रोत्रं वै ब्रह्मेति । ५ । मनोवै ब्रह्मेति । ६ ॥

यदि उपनिषद् के इस महान् सिद्धान्त पर विचार किया जावे तो मुक्तकण्ठ से सर्व विद्वान् एकमत होके कहेंगे कि निःसन्देह मानवेन्द्रिय बहुत ही बड़े हैं ।

तक इनकी पवित्रता और इनके परमगुणों को मनुष्य न जानेगा तबतक तन्नति नहीं कर सकता। अब मैं उस समय की कुछ सामाजिक धार्मिक और राजकीय दशा दिखलाना चाहता हूं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण उस समय अच्छे प्रकार बन चुके थे। १।४।११—१५ तक देखो परन्तु अधिकांश गुण कर्म से ही वर्णव्यवस्था मानी जाती थी। क्षत्रिय कुछ वंशज हो चले थे ऐसा प्रतीत होता है। क्षत्रिय से ब्राह्मण विद्याध्ययन करते, परन्तु शुश्रूषा आदि सेवा वचनमात्र से करते साक्षात् नहीं क्योंकि जब पंचालदेशाधिपति क्षत्रिय जैबलि प्रवाहण के निकट गौतम वंशीय एक ब्राह्मण विद्याध्ययन करने को गया है वहां यह लिखा है कि "**वाचा ह स्मैव पूर्व उपयन्ति सहोपायनकीर्त्योवास**"। ६।२।७। पहिले के ब्राह्मण भी वचनमात्र से क्षत्रिय के निकट उपनीत हुए हैं अतः यह गौतम भी शुश्रूषादि की वचनमात्र से कीर्तन करते हुए उनसे विद्याध्ययन करने लगे। अजातशत्रु ने कहा है कि यह उलटी बात है कि क्षत्रिय के निकट जाकर ब्राह्मण विद्याध्ययन करे। २।१।१५। पुनः लिखा है कि "**तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये**" १।४।११। राजसूय यज्ञ में क्षत्रिय के नीचे ब्राह्मण बैठता है। उस समय बड़ी २ सभाएं होती थीं और उसमें देश २ के विद्वान् और अन्यान्य मनुष्य निमन्त्रित होते थे। जैसे जनक की सभा में बहुत दूर २ देश से मनुष्य इकट्ठे हुए थे। अत्यन्त रोचक और परमाभ्युदयसूचक वार्त्ता यह थी कि स्त्रियां भी समानरूप से सभा में आती थीं और केवल प्रश्नोत्तर की ही अधिकारिणी नहीं थीं किन्तु निर्णय करने का भी अधिकार रखती थीं। जैसे सम्राट् की सभा में श्रीमती गार्गी थी। यद्यपि श्री याज्ञवल्क्य की दो भार्याएं थीं तथापि सार्वजनीन नियम एक ही स्त्री रखने का था। राज्यप्रबन्ध के अनेक स्थान भिन्न२ नियत थे जैसे "**तद्यथा राजानमायान्त मुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्यः अन्नैः पानैरावसथैः प्रतिकल्पन्ते**। ४।४।३७। उग्र, प्रत्येनस् सूत और ग्रामणी इन चार प्रकार के हाकिमों के नाम आते हैं उग्र शब्द से प्रतीत होता है कि फौजी हाकिम। प्रत्येनस्=प्रति एनस्। एनस्=पाप, इस से प्रतीत होता है कि एक २ पाप, वा अपराध के लिये निर्णेता एक २ (मजिस्ट्रेट) नियत होता था। जैसे चोरों के लिये एक निर्णेता। दुराचारी व्यभिचारी के लिये एक मजिस्ट्रेट। हत्यारे के लिये एक भिन्न [illegible] अट्रेट। सूतका काम रथ, नौका आदिकों के विवाद का शमन करने का था और

ग्रामणी शब्द से प्रतीत होता है कि प्रत्येक ग्राम में शान्ति स्थापना के लिये एक २ ग्राम–नायक रक्खा जाता था। उस समय राजा और आचार्य में परस्पर शिष्य और गुरु का भाव था, जैसे जनक महाराज सम्राट् थे परन्तु श्रीयाज्ञवल्क्य के आने पर सिंहासन पर से उठकर नमस्ते किया करते थे "**जनको ह वैदेहः कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य**"। ४। २। १। पुनः अपने आचार्य के निकट दासत्व को भी स्वीकार करते थे यथा सम्राट् जनक कहते हैं कि–"**सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि मां चापि सह दास्यायेति**"। ४। ४। २३। वह मैं परम पूज्य आपको सम्पूर्ण विदेह देश देता हूं और दासत्व के लिये मैं अपने को भी समर्पित करता हूं। उस समय स्त्रियों की बहुत ही उच्चदशा थी। स्त्रीजाति यज्ञ के समान परमपवित्र मानी जाती थी। इस का प्रत्येक अङ्ग यज्ञाङ्ग माना जाता था।

ज्ञान और कर्मकाण्ड–जैसे प्रत्येक उपनिषद् ज्ञान की श्रेष्ठता और कर्मकाण्ड की तदपेक्षया अश्रेष्ठता बतलाती हैं। वैसे यह भी ज्ञान की परम श्रेष्ठता का उपदेश देती है। पञ्चाग्निविद्या के प्रसंग में आता है कि="**ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसंभवन्ति**" इत्यादि। ६। २। १५। जो अरण्य में श्रद्धापूर्वक सत्य परमात्मा की उपासना करते हैं वे प्रकाश में प्राप्त होते हैं और अन्ततो गत्वा ब्रह्म को प्राप्त करते हैं "**तेषां न पुनरावृत्तिः**" उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती अर्थात् बहुत समयतक मुक्ति सुख का लाभ उठाते हैं और "**अथ ये यज्ञेन, दानेन, तपसा लोकान् जयति ते धूममभिसंभवन्ति**। इत्यादि। ६। २। १६। जो यज्ञ से, दानसे, और तपसे लोकों को जीतते हैं वे अन्धकार में जाते हैं और अन्ततो गत्वा कुछ दिन साधारणसुख भोगकर "**एवमेवानुपरिवर्त्तन्ते**" इसी प्रकार जन्ममरण के प्रवाह में बहते रहते हैं।

विशेष दृष्टि– १ छान्दोग्योपनिषद् की कई एक कथाएं समानरूप से इस में आई हैं। यथा क–देवों का उद्गीथ द्वारा विजय पाना–"**देवासुरा ह वै यत्र संयेतिरे उभये प्राजापत्यास्तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिभविष्याम इति**"। छान्दोग्योपनिषद् (छा० उ०) १–२ **द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्द्धन्त ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति** ॥ बृ० आ० उ० १–३ समान"

बृहदारण्यक में कुछ विशेषरूप से वर्णन है। दोनों को तुलना करके पढ़िये ख—पञ्चाग्निविद्या=श्वेतकेतु को पञ्चाल देश के राजा प्रवाहण जैबलि के निकट जाना और यहां इसका परास्त होना पुनः इसके पिता गौतम को राजा से विद्या ग्रहण करना इत्यादि वर्णन छा० उ० और बृ० उ० दोनों में प्रायः तुल्य है छा० उ० पञ्चम प्रपाठक के तृतीय खण्ड से लेकर दशमखण्ड तक और बृ० उ० के षष्ठाध्याय के द्वतीय ब्राह्मण को देखिये। छा० उ० में किञ्चित् मात्र विशेष वर्णन है ग—छा० उ० पञ्चम प्रपाठक के और बृ० उ० के षष्ठाध्याय के आरम्भ से प्राणसंवाद वर्णित है। दोनों उपनिषदों में यह आख्यायिका भी प्रायः तुल्य ही है। घ—इसी प्रकार श्रीमन्थकर्म बृ० उ० ३०—६—३ में बृहत्रूप से और छा० उ० ५—२ में स्वल्परूप से वर्णित है।

२—छा० उ० की रीति के समान बृ० उ० में भी कई एक वर्णन आए हैं। जैसे महाश्रोत्रिय अर्थात् महावैदिक प्राचीनशाल और उद्दालक आदि कई एक ब्राह्मण मिलकर कैकेय देश के राजा अश्वपति के निकट वैश्वानर के अध्ययन के लिये गये हैं और उनसे विद्याध्ययन किया है इसी प्रकार अनूचान अर्थात् वैदिक बालाकि नाम के एक ब्राह्मण ने काशी के राजा अजातशत्रु के निकट परास्त होकर उनसे विद्याध्ययन किया है इस प्रकार छा० उ० और बृ० उ० के अनेक विषय समान हैं।

याज्ञवल्क्य और मैत्रेयीसंवाद उपनिषद् में दो चार प्रायः तुल्य रूप से आया है द्वितीय और चतुर्थ अध्याय के अन्त में देखिये इसी प्रकार वंशब्राह्मण भी तीन स्थानों में प्रायः समानरूप से वर्णित है। इसमें सन्देह नहीं कि इस उपनिषद् में पुनरुक्ति अधिक है।

बहुत आदमी कहते हैं कि इस में कुसंस्कार के विषय हैं जैसे बृ० उ० २—३ में लिखा है कि पतञ्चल नाम के किसी पुरुष की कन्या गन्धर्वगृहीता थी इस शब्द का अर्थ श्रीशंकराचार्य "गन्धर्वेणामानुषेण सत्त्वेन केनचिदाविष्टा" करते हैं इस से सिद्ध है कि जैसे आज कल मूर्ख गवार आदमी भूत खेलता है इसी प्रकार यह कन्या भी किसी अदृश्य गन्धर्व से पकड़ी हुई थी और आज कल के समान खेलती यह कुसंस्कार की बात है।

उ०—यहां गन्धर्व शब्द का अर्थ गानविद्या सिखलाने वाला अध्यापक करने से कोई दोष नहीं आता । श्रीशंकराचार्य का अर्थ सर्वथा अमान्य है "ख" पुनः कहते हैं कि इसमें विज्ञान शास्त्र की विरुद्ध बातें हैं जैसे बृ० उ० ३—६ के गार्गी याज्ञवल्क्य के संवाद में आता है कि यह पृथिवी जल के आधार के ऊपर है वह जल वायु के, वायु अन्तरिक्ष के, अन्तरिक्ष गन्धर्व लोक के, गन्धर्व लोक आदित्य लोक के, आदित्य लोक चन्द्र लोक के, चन्द्र लोक नक्षत्र लोक के, नक्षत्र लोक देव लोक के, देव लोक इन्द्रलोक के, इन्द्रलोक प्रजापति लोक के और प्रजापति लोक ब्रह्म लोक के आधार पर ठहरा हुआ है । यह सर्वथा विज्ञान विरुद्ध बात है पृथिवी किसी जल के ऊपर नहीं और न सूर्य लोक चन्द्र लोक के अधीन है । उ०—मैंने अपने भाष्य में इसका आशय संक्षेप से दर्शाया है जिससे शंका सर्वथा दूर होजाती है श्रीशंकराचार्य आदि के अर्थ सर्वथा त्याज्य हैं । प्रश्न—बृ० उ० ३—३ में लिखा है कि सूर्य्य का रथ एक अहोरात्र में निरंतर चलकर जितने देश में जाता है उतना देश देवरथाह्व्य कहलाता है ३२ रथाह्व्य के बराबर यह लोक है इस लोक के चारों तरफ़ द्विगुण पृथिवी है और पृथिवी के चारों तरफ द्विगुण समुद्र है इन दोनों लोकों के मध्य में उतना अवकाश है जितना चाकू का अग्रभाग अथवा मक्खी का पांख हो इत्यादि संदिग्ध और विज्ञान विरुद्ध बात है इसी प्रकार पञ्चमाध्याय दशम ब्राह्मण में आया है कि जब पुरुष मरता है तब वायु में जाता है वायु अपने देह में उसको उतनी जगह देता है जितना रथ के चक्र का छिद्र हो उस छिद्र से विद्वान् ऊपर आदित्य लोक को जाता है पुनः आदित्य लोक से चन्द्रलोक को जाता है । यह वर्णन भी सर्वथा विज्ञान प्रतिकूल है क्योंकि प्रथम वायु कोई चेतन देव नहीं जो किसी जीव को वह रास्ता बतला सके और चन्द्र पृथिवी के निकटस्थ व सूर्य दूरस्थ है इस अवस्था में सूर्यलोक से चन्द्रलोक में जाने का वर्णन सर्वथा असंगत है इस प्रकार की बहुतसी ऊटपटांग बातें भरी पड़ी हुई हैं । उ०—कोई ऊटपटांग बातें नहीं इस भाष्य को उस २ स्थल पर देखिये तो शंका दूर होजायगी ।

शंका—इसमें स्त्रीजाति की बड़ी नीच अवस्था दिखलाई गई है प्रथम इसके कर्त्ता, धर्त्ता याज्ञवल्क्य की दो स्त्रियां एक साथ थीं दूसरी बात बृ० उ० ६—४ में लिखा है कि यदि स्त्री राजी न हो तो उसको दण्ड से मारकर भी अपने

लावे यह बिलकुल जंगलीपन की बात है। समाधान—याज्ञवल्क्य की दो स्त्रियां थीं परन्तु इससे कोई यह बात सिद्ध नहीं होती कि उस समय ऐसे सब कोई थे और यह विधि थी इसके विरुद्ध उस समय के अन्यान्य ग्रन्थों में एक स्त्रीव्रत अनेक स्थल में पाया जाता है। स्त्रीजाति को तो उपनिषद् परमपवित्र यज्ञस्वरूप मानती है परन्तु यदि कोई स्त्री कर्कशा हो तो उसको दंड का भय दिखलाने को कहा गया है न कि मारने के लिये कोई आज्ञा आती है। शंका—षष्ठाध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में मारण मोहन आदि कई एक घृणित और निन्दनीय विषय वर्णित हैं जैसे किसी पुरुष की स्त्री का कोई जार (यार) हो तो उसके मारने का मारण प्रयोग लिखा है इसी प्रकार स्खलित वीर्य को अंगुली से उठाकर स्तनों और भौहों के बीच में लगाने की चर्चा पाई जाती है, इत्यादि। उ० मेरा भाष्य एकवार देखने मात्र से सब शङ्काएं दूर होजायंगी।

भाष्य के संबन्ध में वक्तव्य ॥

ईश्वर की कृपा से यह भाष्य अब मुद्रित हो प्रकाशित भी होगया है इसकी रचना में अनेक विघ्न समय २ पर उपस्थित होते रहे क़रीब ५ पांच वर्ष पहिले आधा भाष्य लिखा गया पुनः इसकी समाप्ति "येन केन प्रकारेण" एक वर्ष में हुई है। ईश्वर का ही कुछ ऐसा अनुग्रह था कि अब यह भाष्य सब जिज्ञासु पुरुषों के निकट पहुंच सकता है मुझे कोई ऐसी आशा नहीं थी। इसके लिये मैं दो चार महाशयों को धन्यवाद दिए बिना नहीं रह सकता—प्रथम अजमेर-निवासी वैश्य-कुलावतंस तथा हिन्दू सुपरिऔरिटी ग्रन्थ के रचयिता श्रीमान् बाबू **हरबिलासजी** शारदा बी.ए. सहकारी मन्त्री, श्रीमती परोपकारिणीसभा तथा कनवीनर वैदिक-पुस्तकालय कमेटी अजमेर। कायस्थकुलकमल श्रीमान् बाबू **गौरीशङ्करजी** बार ऐटला, मन्त्री, आर्य्य प्रतिनिधिसभा राजस्थान। तथा क्षत्रियवंशप्रदीप, तथा परोपकारिणीसभा सभासद, जोबनेर वास्तव्य श्रीमान् ठाकुर **कर्णसिंहजी**। इन तीनों उदार महाशयों के सुप्रबन्ध से मैं इस कार्य को निर्विघ्न समाप्त करने में समर्थ हुआ हूं। इसके पश्चात् बाबू गणेशीलालजी भी जो इस समय वैदिक पुस्तकालय के प्रबन्धकर्त्ता हैं धन्यवाद के पात्र हैं क्योंकि इन्होंने अनेक पत्र द्वारा मुझे प्रेरणा कर और बुला भाष्य की समाप्ति [illegible] अन्त में पुनः इस परमात्मा को नमस्कार कर पाठकों से निवेदन करता हूं

कि अनेक विघ्न के और क़रीब छः वर्ष के अन्तर के कारण से भी जो इसमें कहीं न्यूनता होगई हो उसके लिये मैं क्षमा प्रार्थी हूं । इति शुभम् ।

निखिल मनुष्य हिताऽऽकांक्षी—

शिवशङ्कर.

ता० २-९-१९११ ई०

अजमेर ।

सूचीपत्र ॥

॥ ओ३म् तत्सत् ॥

बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये

अवपातनिका ।

आलस्यं मृत्युरित्याहुर्यत्नं जीवनमित्युत ।

यथाबोधं यथाशक्ति च नूनं सर्वश्चेतनो व्याम्रियमाणो दृश्यते । तद्यथा-पिपीलिकाः खलु सततं कणशः कणशोऽशनं समाहृत्य २ विवरं प्रपूरयन्ति । पुत्तिका वल्मीकसंचयनात् क्षणमपि न विरमन्ति । भ्रमराः कुसुमेभ्यो मधु संगृह्णानाः स्वव्यापारं न कदाप्यवहेलयन्ति । विहगा अनवरतस्वकूजनैः चपलस्वभावप्रणोदितैः स्वोत्पतनावपतनैश्च गृहानुपवनानि उद्यानानि पादपान्

अपने २ बोध और सामर्थ्य के अनुसार सब चेतन परिश्रम करता हुआ दीखता है। पिपीलिकाएं सतत एक २ कण को इधर उधर से इकट्ठा कर अपने विवर को पूर्ण करती रहती हैं। पुत्तिकाएं वल्मीक के ढेर करने से क्षणमात्र भी विराम नहीं लेतीं। ये भ्रमर कुसुमों से मधु संग्रह करते हुए अपने व्यापार का कदापि भी निरादर नहीं करते। विहग अनवरत अपने २ कूजन से और चञ्चल स्वभाव-प्रेरित निज उत्पतन और अवपतनों से गृहों, उपवनों, वृक्षों तथा वनों को

अरण्यानि सचेतनानीव कुर्वन्तो भूषयन्तश्चाऽऽप्रदोषात् स्वनियोगमशून्यं बि-दधति। अहो ! अचेतना अपि सूर्यादयो महता वेगेन भ्रमन्तः क्षणिकामपि विश्रान्तिं न कांक्षन्ति । क्षणमपि स्तिमिते समीरणे कथमिव व्याकुली-भवन्ति जीवाः । भगवती वसुन्धरा नैरन्तर्येण उच्चावचान् पदार्थान् प्रसुवाना महता रंहसा धावति । एवं ये प्राणिनः क्षणायुषः सन्ति तेऽपि यथाबलं यथामनोरथं चेष्टमाना एव दृष्टाः । एवं जीवनप्रदा इमे स्थावरा अपि चेष्टमाना अतितरां शोभन्ते । तेषां मध्ये मनुष्यो महाचेष्टावानित्यत्र कः संशयीत। इतरेषां तु नियता नैसर्गिकी जीवनायाऽऽवश्यकी चेष्टा प्रतीयते न तथा मानवी । दृश्यतां तावन्मनुष्याणां मध्ये केचित् क्रियां प्रशंसन्ति । निन्दन्ति च केचन। सन्ति चेदानीमपि परमहंसाभिधायिनो येऽशनमपि स्वहस्तेन कर्तुं नेच्छन्ति, नग्ना विचरन्ति, न चीवरयन्ते, न स्नान्ति, न शौचमाचरन्ति। तद्विप-

---

मानो सचेतन और भूषित करते हुए रात्रिपर्य्यन्त अपने नियोग (अनुष्ठेयकार्य) को शून्य नहीं करते । अहो, अचेतन सूर्यादि पदार्थ भी बड़े वेग से घूमते हुए एक क्षण भी विश्रान्ति नहीं चाहते । एक क्षण भी जब वायु स्तिमित होजाता तब जीव कैसे व्याकुल होते । भगवती बसुन्धरा, निरन्तर उत्तम, मध्यम, निकृष्ट विविध पदार्थों को पैदा करती हुई बड़े वेग से दौड़ रही है। जिन प्राणियों की क्षण भर ही की आयु है वे भी अपने बल और मनोरथभर चेष्टा करते हुए देखे गये हैं । इसी प्रकार स्थावर भी चेष्टायमान हैं जिन में चेतनशक्ति गाढ़ सुषुप्ति में पड़ी हुई है और जो जगत् में जीवनप्रद और अति सुशोभमान दीखते हैं, उन सब में मनुष्य महाचेष्टावान् जीव है इसमें कौन सन्देह कर सकता है । परन्तु अन्य जीवों की चेष्टा नियत स्वाभाविक जीवन के लिये आवश्यक प्रतीत होती किन्तु मानवी चेष्टा वैसी नहीं । देखो, मनुष्यों में कोई क्रिया की प्रशंसा और कोई निन्दा करते। आजकल भी ऐसे परमहंस नामधारी मनुष्य पाये जाते हैं जो अपने हाथ से अशन भी करना नहीं चाहते, नग्न ही विचरते न तो वस्त्र उपार्जन करते और न धारण करते, न स्नान, न किसी प्रकार के शौच ही करते।

रीताःखलु बहवः। अतो न समा न च नियता मानवी क्रिया। अस्वाभाविकान्यपि कर्म्माणि अनुष्ठीयन्ते मानवजात्या । तद्यथा—दिवास्वापो रात्रिजागरणम् । स्वल्पे वयसि परिग्रहग्रहणम् । बह्वीनां स्त्रीणामेकेन पुरुषेणावरोधः । अतिभयङ्करः पुत्रीवधः । सतीदाहः । भृग्वादिपतनमग्निप्रवेशः । ब्राह्मणादिजातिभेदः । इत्येवंविधं बहु स्वभावविरोध्यपि हठादभ्यासेन स्वाभाविकीकृतमस्ति । स्वभुजबलेन जगद्वशीकरणचेष्टा । स्वजातिवधाय लक्षशः सैन्यस्थापनम् । इतरान् दरिद्रीकृत्य स्वार्थसिद्धये बहुललना-परिच्छद-चतुरङ्गसेना-प्रासादो-द्याननट-विट-धूर्तादि-पालनमित्येवंविधंसर्वमनावश्यकमेव ।

अतो ब्रूमो मनुष्याणां चेष्टा बह्वी अनियता अनावश्यिकी अस्वाभाविकीच । इत्थम् उभे चेष्टे तु महदन्तरं सूचयतः । नहि सर्वान् स्वबन्धूनुच्छेत्तुं प्रयतमानो दृष्टः कश्चिच्छार्दूलः । मनुष्यस्तु तथा दृष्टः । श्रूयते किल परशुरामो निखिलानि

परन्तु इसके विपरीत बहुत हैं । इस हेतु मनुष्यों की क्रिया समान और नियत नहीं है और अस्वाभाविक कर्म्म भी मनुष्य करता है, जैसे—दिवा स्वाप, रात्रि जागरण, थोड़ी ही वयोवस्था में स्त्रीग्रहण । अतिभयङ्कर महाघोर पुत्रीबधरूपकर्म, सतीदाह, पर्वत पर से गिरकर मरना, अग्निप्रवेश, मनुष्यों में ब्राह्मणादि जातिभेद इत्यादि २ स्वभाव विरोधी कर्म हैं । तथापि ये स्वाभाविक बना लिये गये हैं । मनुष्यों के अनावश्यक कार्य भी बहुत हैं, जैसे—अपने भुजबल से जगत् को वश में करने के लिये चेष्टा करनी । अपनी ही जाति के बध के लिये लाखों सेना स्थापन । दूसरों को दरिद्र बनाकर स्वार्थसिद्धि के लिये बहुतसी स्त्रियां, वस्त्र, चतुरङ्गसेना, प्रासाद उद्यान, नटविट धूर्तादिकों का प्रतिपालन इत्यादि २ अनावश्यक ही हैं ॥

इस हेतु कहना पड़ता है कि मनुष्य की चेष्टा अनियत, अस्वाभाविक और अनावश्यक भी होती है । इस प्रकार ये दोनों चेष्टाएं (मनुष्य की और अन्य जीवों की चेष्टा) बहुत अन्तर रखती क्योंकि कोई भी शार्दूल सकल निज बन्धुओं के नाश करने का प्रयत्न करता हुआ नहीं दीखता । परन्तु मनुष्य में ऐसी लीला है । सुना जाता है कि परशुराम ने निखिल क्षत्रियकुलों को मूल से उख‍ाड़े

राजन्यकुलानि समुन्मूलयितुं प्रतिजज्ञे । तथैव रामोपि रक्षांसि । महारथानां रघुप्रभृतीनां दिग्विजय व्यापारोपि तादृगेव । पितृवधकोपितः सम्राड् जनमेजयस्त्रिलोकव्यापिनो निःशेषतया सर्पान् वह्निसात् कर्तुं चक्रमे । इदानीमपि सन्ति सहस्रशो राजानो ये सम्पूर्णां पृथिवीं स्वायत्तां विधित्सन्ति । अशेषैर्मनुष्यैः शिरोभिर्वन्द्यमानान् स्वचरणांश्च दिदृक्षन्ते । ईश्वरः खलु तदुद्योगे यदि विघ्नं नोत्पादयेत् न च स्वबन्धव एव तदीयशात्रवमुत्पाद्य तदीयमनोरथव्याघातं न कुर्य्युस्तर्हि कांस्कानत्याचारान् नाचरेदिति वक्तुमपि कठिनमेव । केचिज्जगतः सकल-श्रेष्ठिनोऽति शाययितुं कामयन्ते । केचिद्विद्यया सर्वानभिभूय न मादृशः कोपि कदापि भवेदित्याशासते । इत्थं विभिन्नचेष्टा निरवधिकचेष्टा मनोरथस्यापि सीमामुल्लङ्घ्य वर्तितुमिच्छति मानवजातिः । मानवमानसिकव्यापारवेगमुपश्लोकयितुं स्वयं वाग्देव्यपि कदाचिदेव समर्था भवेत् । नेतरजीववत् परिच्छिन्ना मानवी चेष्टा । न केवलं शरीर-पो-

---

ड़ने की प्रतिज्ञा की थी । वैसी ही प्रतिज्ञा राम ने राक्षसों के बध के लिये की । महारथ रघु प्रभृतियों का दिग्विजय व्यपार भी वैसा ही है । पिता के बध से कोपित हो महाराज जनमेजय ने त्रिलोकी–व्यापी सर्पों को भस्म करना चाहा । आज भी अनेक राजा हैं जो सम्पूर्ण पृथिवी को अपने ही अधीन में करना चाहते और पृथिवीस्थ समस्त मनुष्यों से वन्द्यमान अपने चरणों को देखना चाहते हैं यदि इनके उद्योग में ईश्वर विघ्न न डाले वा अन्य निजभाई ही शत्रु बनकर इनके मनोरथ को न रोकें तो ये कौन २ अत्याचार न करें, सो कहना कठिन है। कोई जगत् के सकल शेठों को अतिक्रम करना चाहते । कोई विद्या से सबों को हरा, मेरे समान कोई न होवे, ऐसी आशा किया करते हैं। इस प्रकार मनुष्य की भिन्न २ चेष्टाएं हैं और उनकी अवधि नहीं है । मनुष्य जाति मनोरथ की सीमा को भी लांघकर रहना चाहती है । मनुष्य के मानसिक व्यापार सम्बन्धी वेग को श्लोकों में वर्णन करने को वाग्देवी भी कदाचित् ही समर्थ होवे । अतः यह सिद्ध हुआ कि इतरजीववत् मनुष्य की चेष्टा परिच्छिन्न भी नहीं, केवल शरीर पोषण पर्यन्त ही नहीं । पृथिवी के अन्त तक ही

षणपरा । न च पृथिव्यन्त-विश्रामा । नैहिकनिखिल-पदार्थ-प्राप्तौ समाप्तिमती । किं तर्हि अदृश्यानपि स्वकपोलकल्पनया पदार्थीकृतानपि च पदार्थान् उपलब्धुं समीहन्ते । अतो मनुष्येषु क्वचिन्महत्यशान्तिः । क्वचिच्छान्तिः । क्वचिन्निष्क्रियता । क्वचित् कर्म्मपरायणता इत्येवंविधपरस्परविरुद्धोभयगुणा दृश्यन्ते मानवाः ॥

अत्र प्रथमं तावन्मीमांस्यते कीदृश्या मानव्या चेष्टया भाव्यम् । मनुष्येषु महानयमनुग्रहः प्रतिभातीश्वरस्य यद् विवेकसहिता इमे सृष्टाः तद्विवेकविवृद्ध्यै वेदा अपि प्रदत्ताः । तैरेव मनुष्यचेष्टापि निर्णेतुं शक्या । किन्त्विदानीं विवादग्रस्तत्वात् शासनाय प्रदत्ता अपि वेदास्तावत्कंचित्कालन्नोपादीयन्ते । सामान्यविवेकेनैव सर्वं पर्य्यालोचयामः । ननु विवेकतारतम्यात्तेन निश्चयकरणासामर्थ्यमिति ब्रूयुश्चेत् । न, आवश्यक-कार्य्यविधौ एकदेशिकानां विवेकस्य साम्यप्रायदर्शनात् । तथाहि क्षुधया म्रियमा-

---

विश्राम लेनेवाली नहीं, और न ऐहिक निखिल पदार्थ प्राप्ति होने से ही समाप्ति होनेवाली है, किन्तु अदृश्य भी निज कल्पना से पदार्थीकृत (अर्थात् जो पदार्थ न था वह पदार्थ बनाया गया हो) पदार्थों की भी प्राप्ति की इच्छा करनेवाली है। इसी हेतु मनुष्यों में कहीं बड़ी अशान्ति और कहीं शान्ति, कहीं निष्क्रियता और कहीं बड़े वेग से कर्मपरायणता देखी जाती है।

अब यहां विचार किया जाता है कि मानवी चेष्टा कैसी होनी चाहिये। मनुष्यों के ऊपर ईश्वर का यह महान् अनुग्रह है कि विवेक सहित मनुष्य बनाये गये। उस विवेक की वृद्धि के लिये ही ईश्वर ने वेद दिये और उनहीं से हम निर्णय कर सकते हैं परन्तु सम्प्रति वेदों को भी विवादग्रस्त करदिया अतः थोड़ी देर तक वेदों को नहीं लेते। किन्तु सामान्य विवेक को ही लेकर विचार आरम्भ करते हैं। यदि यह कहैं कि विवेक के न्यूनाधिक्य होने से हम लोग केवल विवेक से निर्णय करने में असमर्थ होवेंगे यह कहना उचित नहीं। क्योंकि आवश्यक कार्य की विधि में एक देश निवासियों का विवेक प्रायः तुल्य ही देखने में आता है।

णेषु कस्य नानुक्रोशः । चोरितेषु प्रियेषु धनेषु जातव्यथः को विवेकी चौर्यवृत्तिं साध्वीं मन्येत । एकाकी प्रोषितो दैवाद्रुग्नः अपरिचितैर्निराकांक्षिभिः सद्भिरुपचरितः शायितः पायितो भोजितश्चिकित्सितोऽन्ततोविशल्यीकृतः सन् कः खलु परस्परसाहाय्यकं कथमिव नानुमोदेत । एवमेव विवेकेन पर्यालोचिताः सर्वेऽत्याचाराः सर्वेषां दृष्टौ हेयत्वमेव प्राप्स्यन्ति । इत्थमात्मनिदर्शनानि पुरस्कृत्य विमृशन्तो जनाः न कापि न्याय्यात् पथः प्रविचलिष्यन्ति ।

ननु सृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं, भूयांसि संवत्सराणां सहस्राणि अयुतानि वा लक्षाणि वा कोट्यो वाऽर्बुदानि वा शङ्खानि वा व्यतीयुः । तदन्तरेऽभूवन् असंख्येया जनहितहेतवो महर्षयो मुनय आचार्या धर्मरक्षका धर्मस्थापकाः शान्तिप्रचारका आत्मबलिप्रदातारोऽपि लोकोत्तरमतयः

देखो ! क्षुधा से मरते हुए मनुष्यों पर किसको दया नहीं उपजती । निज प्रियवस्तु की चोरी होजाने से किसको व्यथा उत्पन्न नहीं होती और इस अवस्था में कौन विवेकी पुरुष चौर्यवृत्ति को अच्छी मानता । अनुमान करो कि कोई एकला ही विदेश गया और दैवयोग से कहीं रुग्न हो गया । तदनन्तर किन्हीं आकांक्षा-रहित अपरिचित अच्छे पुरुषों ने उसकी सुश्रूषा की, सोलाया, पिलाया, खिलाया और दवाई करवाकर नीरोग करवाया, अब कहो वह मनुष्य परस्पर की सहायता का अनुमोदन करेगा या नहीं । इस प्रकार यदि विवेक से सकल अत्याचार अच्छे प्रकार विचारित होवें तो सबों की दृष्टि में वे त्याज्य ही ठहरेंगे । इस प्रकार अपने आत्मदृष्टान्त आगे रखकर यदि मनुष्य विचार करे तो कहीं भी न्याय-युक्त पथ से नहीं गिरेगा ।

यहां पर एक भारी आशङ्का उपस्थित होती है कि सृष्टि के आरम्भ से आज तक कितने सहस्र, अयुत, लक्ष, कोटि, अर्बुद वा शङ्ख वर्ष बीत गये । इसके बीच २ में महर्षि, मुनि, आचार्य्य, धर्म्मरक्षक, धर्मस्थापक, शान्तिप्रचारक, आत्म-बलिप्रदाता, लोकोत्तरमति और बडे २ प्रभावशाली पुरुष हुए तथापि वैर शान्त

प्रभावशालिनः पुरुषाः । तथापि न प्रशशाम वैरम् । न निववृतेऽकिञ्चनता । न जहावज्ञानता । न कश्चित् पलायांचक्रे तुमुलसंप्रहारः । किंबहुनोक्तेन भ्रातृव्यशब्दएव शत्रुतायाः स्वाभाविकत्व मनादित्व माप्रलयस्थायित्वं च गमयति । ईश्वरस्येदृश्येव सृष्टिः प्रतिभाति । न तत्रास्माकं जीवनांदोषः । अनादिकालप्रवृत्तो देवासुरसंग्रामोत्र प्रमाणम् । किमिदानीं स शान्ति समाप्तिं च नीतः । अस्ति भो रेकमपिनिदर्शनं निरुपद्रवं कस्यापि युगस्य कस्यापिधर्मावतारस्य सम्राजोपि वा । धर्मावतारः किल श्रूयते युधिष्ठिरः । सोऽपि दैवविप्रयोगादाचार्य्य गुरु पितृ पितामह प्रपितामह भ्रातृ श्वशुरस्यालेष्टमित्रादि संहारकारिण्यां संग्रामहत्यां पतितोऽभूत् । एकएव किल महाभारताख्यः कलहः सर्वाणि ब्राह्मतेजांसि क्षात्रवीर्याणि वाणिज्याशक्तीः समहार्षीदित्याहुः । अतो विवेककथापि रिक्तैव प्रतिभाति । क इदानीं वसिष्ठम्वा कृष्णम्वा भीष्मम्वा विवेकिनं न मन्यते । तैरपितु अत्याचरितम् । यदि शिष्टैः दुष्टा आततायिनः

न हुआ । दरिद्रता न गई अज्ञानता ने किसी का पिण्ड न छोड़ा । तुमुल संग्राम कहीं भाग न गया । बहुत क्या कहें "भ्रातृव्य" शब्द ही दिखलाता है कि शत्रुता स्वाभाविक, अनादि और प्रलय पर्य्यन्त स्थायी है । ईश्वर की ऐसी ही सृष्टि है यहां हम जीवों के दोष नहीं । इसमें अनादिकाल से प्रवृत्त देवासुर—संग्राम प्रमाणभूत है । क्या आज वह देवासुर—संग्राम शान्त होगया ? नहीं । क्या किसी युग का वा किसी धर्मात्मा सम्राट् का भी एक निरुपद्रव दृष्टान्त दिखला सकते हैं ? जगत् भर में युधिष्ठिर महाराज धर्मावतार कहे जाते । क्या इनको भी दैव के विप्रयोग से गुरु आचार्य्य पितामह प्रपितामह भ्राता श्वशुर श्याल इष्ट मित्रों का भी संहार करनेवाली संग्रामरूप महाहत्या में गिरना नहीं पड़ा ? । आश्चर्य की बात है कि एक ही महाभारत नामक कलह ने सम्पूर्ण ब्राह्मतेज, क्षात्रवीर्य, व्यापार शक्तियां हरण करलीं । इस हेतु मुझे विवेक की कथा भी रिक्त=अर्थशून्य ही प्रतीत होती है । कौन आदमी इस समय कह सकता है कि वसिष्ठ वा कृष्ण वा भीष्मपितामह विवेकी नहीं थे । परन्तु उन्होंने भी अत्याचार किया यदि यह कहा जाय कि दुष्ट और आततायिकों का संहार

संहर्तव्या अतस्तेषामीदृशी प्रवृत्तिरिति वाच्यम् । इदमपि निर्णेतुमशक्यम् । अन्योन्यं हि दुष्टमज्ञानिनं धर्मविरहितं व्यवहरन्ति जनाः। सर्वः स्वार्थं समीहते। का तर्हि व्यवस्थाशा । को विवेको नाम को वाऽविवेकः । धर्मनाम्ना सर्वं विडम्बनमात्रं प्रतिभाति ।

इत्याक्षेपे ब्रूमः—अज्ञानता सर्वानर्थबीजमिति सर्वैराप्तैर्व्यवस्थापितम् । तथाहि । शलभा अग्नौ पतित्वा म्रियन्ते । इत्यत्र सुनिपुणतया विचार्यमाणे वस्तुनि अज्ञानतैव हेतुः प्रतीयते। अज्ञानी बालोविषधरमपि हस्तेन ग्रहीतुमिच्छति। स एव पुनरपि विदितः सन् तस्माद्भीत्वा पलायते । तं व्यापादयितुम्वा प्रयतते । इदानीमपि अज्ञानी खलु भारतवर्षीयो ब्राह्मणः पवित्रस्यापि शूद्रीकृतस्य नरस्यान्नं भुक्त्वाऽऽधिना व्यथते प्रायश्चित्तं विधाय सुखयति । प्राचीनशिष्टाचारव्यवहारस्तु पुनरपिशूद्रैरेवान्नं पाचयितव्यमिति दृश्यते, इहत्यएवज्ञानी सन्न्यासी चाण्डालस्यापि शुद्धोदनमभ्यवहृत्य न किञ्चन शोचति । रुग्ने

करना ही उचित है तो मैं कहता हूं कि इसका भी निर्णय अशक्य है क्योंकि एक दूसरे को अज्ञानी धर्महीन कहा करते हैं। क्योंकि सब कोई स्वार्थ चाहता है तब व्यवस्था की आशा कैसे हो सकती है।

इस आक्षेप पर कहा जाता है कि सब आप्त जनों ने स्थिर किया है कि अज्ञानता ही अनर्थ बीज है। देखो ! शलभ अग्नि में गिरकर मर जाते हैं । यहां निपुणता के साथ विचार करने पर भी अज्ञानता ही कारण प्रतीत होती है अज्ञानी बालक विषधर सर्प को भी हाथ से पकड़ना चाहता है । जब वही ज्ञानवान् होता है तब उस सर्प से डरकर भाग जाता है वा उसको मारने की चेष्टा करता है । देखो, आजकल अज्ञानी भारतवर्षीय ब्राह्मण पवित्र शूद्र का (जो यथार्थ में शूद्र नहीं है जिसको हठात् शूद्र मान लिया है) अन्न खाकर बहुत मानसिक दुःख से व्यथित होते और प्रायश्चित्त कर सुखी होते, किन्तु प्राचीन शिष्टाचार व्यवहार तो यह बतलाता है कि शूद्रों को ही अन्न पकाना चाहिये । देखते हैं कि यहां के ज्ञानी सन्न्यासी चाण्डाल का भी शुद्ध भात खाकर

बालके कस्याश्चिद् डाकिन्या अयं व्यापार इति मन्यन्ते स्म। सम्प्रति ज्ञानविवृद्धौ न कोपि विवेकी डाकिनीं मन्यते । तेन सहस्रशो मनुष्याणां चिकित्सयोद्धारो-जातः । दुर्बोधोजनो राहुनिबन्धनं ग्रहणं मत्वा स्वाज्ञानेन दुःखशतानि भुङ्क्ते । ग्रह-तत्त्वविदस्तु किञ्चिदपि न शोचन्ति । सन्तीदृशानि उदाहरणशतानि यानि विद्याविद्ययोर्महदन्तरं सूचयन्ति। अतो ब्रूमः—विवेकेनोत्पन्ने ज्ञानाऽऽलोके पुनरपि न स्थास्यत्यज्ञानान्धतमसम्। ननु पुरा यदि स नोदियाय। कथमिदानीं तदीयो-दयस्य प्रत्याशा । उदयस्वीकारेपि नाविद्यायाः सर्वांशेन प्रहाणिर्दृष्टा कदापि । इत्याशङ्कायां ब्रूमः—नहि सर्वावच्छेदेनाऽज्ञानस्योच्छित्तिर्भवितेत्यत्रोमिति वय-मपि ब्रूमः । यथोदितेपि सूर्ये क्वचित्तिष्ठत्येवान्धकारः, न तेन तु कार्ये हानिः । भवनमभितो वर्त्तमान आलोके भवनस्थं तमोव्याहतमिव न कार्य्ये विघ्न-मुत्पादयितुं शक्नोति । एवमेव प्रवृद्धायां विद्यायां समुदिते च विवेके क्वचिल्ली-

---

कुछ भी शोक नहीं करते । जब कोई लड़का रुग्न होता तो अज्ञानीजन कहते हैं कि किसी डाइन का यह व्यवहार है । इस हेतु मेरा लड़का रुग्न हुआ है । अब ज्ञान की वृद्धि होने से कोई विवेकी पुरुष डाकिनी को नहीं मानता । इससे सहस्रशः मनुष्यों का चिकित्सा से उद्धार हुआ है, दुर्बोध जन राहुकृत ग्रहण मान सैकड़ों दुःखों को भोगते हैं, परन्तु ग्रहण के तत्त्व जाननेहारे कुछ भी शोक नहीं करते । ऐसे शतशः उदाहरण हैं जो विद्या और अविद्या में बड़ा अन्तर सूचित करते । इस हेतु कहते हैं कि विवेक से ज्ञानरूप आलोक की उत्पत्ति होने पर अज्ञानान्धकार नहीं ठहर सकता और तब ही निर्णय की भी सम्भावना है ॥ यहां पुनः शङ्का होती है कि पूर्व समय में यदि उस ज्ञानाऽऽलोक का उदय न हुआ तो अब उसके उदय की प्रत्याशा कैसे हो सकती । उत्तर—यह हम भी स्वीकार करते हैं कि सर्वथा अज्ञानता की उच्छित्ति (विनाश) कदापि भी होने-वाली नहीं क्योंकि सूर्य के उदय होने पर भी कहीं अन्धकार रहता ही है परन्तु उस अन्धकार से कार्यहानि नहीं होसकती । जब गृह के चारों तरफ आलोक वर्त्तमान रहता तो भवनस्थ भी तम व्याहत सा हो कार्य्य में विघ्न उत्पन्न नहीं कर सकता । इसी प्रकार अतिशय विद्या की वृद्धि होने से विवेक के उदय होने पर

ना अविद्या न दुःखाकरिष्यति । पुराणान्यपि सन्त्युदाहरणानि यानि प्रजास्व-क्लेशं दर्शयन्ति । तथाहि-जानश्रुतिर्हि पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस । स ह सर्वत आवसथान् मापयाञ्चक्रे सर्वत एव मेऽत्स्यन्तीति । अन्याचाप्याख्यायिका सेयम्-स ह प्रातः सञ्जिहान उवाच-न मे स्तेनो जनपदे न कदर्य्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः । यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि यावदेकैकस्मै धनं दास्यामि तावद्भगवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु मे भगवन्त इति ॥ छा० उ० । मदीयमेवाऽन्नं सर्वे भिक्षवोऽश्नन्त्वित्याशयेन सर्वत्रराज्ये शालामापनं पौत्रायणस्य जानश्रुतेर्महतीमुदारतां धर्म्मपरायणता मौचित्यपालयितृत्वं च दर्शयति । एतेन देशे शान्तिः सुधया-

---

कहीं विलीना भी अविद्या दुःखोत्पादन में समर्था नहीं होगी और अतिप्राचीन भी बहुत उदाहरण हैं जो प्रजाओं के क्लेशों के अभाव दिखलाते हैं । जैसे—पौत्रायण जानश्रुति महाराज किसी एक समय में हुए । वे श्रद्धापूर्वक दान दिया करते थे और बहुत देते थे अर्थात् याचक की इच्छा को पूर्ण करनेहारे थे और इन के गृह पर प्रतिदिन अन्न बहुत पकाये जाते थे । इन्होंने अपने राज्यभर में भोजनशालाएं बनवाई थीं कि सब कोई मेरे ही अन्न को ग्रहण करें । अन्य भी आख्यायिका है । वह यह है—कैकय देश के अधिपति अश्वपति नाम के राजा बड़े आत्मज्ञानी थे, इनके निकट कई एक जिज्ञासु आत्मतत्त्व विचार के लिये आये । उनका विधिपूर्वक सत्कार कर एक दिन प्रातःकाल उठ और अपने अतिथियों के निकट आ, अपने राज्य का वृत्तान्त सुनाने लगे । हे मेरे माननीय ब्राह्मणो ! मेरे राज्य में न चोर, न कृपण, न मद्यप, न व्यभिचारी ही है । व्यभिचारिणी तब कैसे होंगी । हे मेरे पूज्यो ! मैं यज्ञ करनेवाला हूं इस हेतु मेरे गृह और राज्य को पवित्र मान आप लोग निःशङ्क हो निवास करें । एक २ ऋत्विक् को जितना धन दूंगा उतना आप लोगों को भी दूंगा, इत्यादि छान्दोग्य उपनिषद् में देखो । अब विचार करो कि ये दोनों आख्यायिकाएं कैसा प्राचीन वृत्तान्त हम लोगों के निकट प्रकट करती हैं । मेरे ही अन्न को सब भिक्षुक खायँ इस अभिप्राय से राज्यभर में धर्मशालाओं का बनवाना सूचित करता है कि—जानश्रुति पौत्रायण बड़े उदार, धर्मपरायण, औचित्यपालयिता थे । इससे यह भी सिद्ध होता है कि देश

चामरणं प्रदर्शितम् । महाराजस्याऽश्वपते राज्ये तु चौर्याद्यभावोऽपि गम्यते ॥

अन्यच्च "सोऽभिषिक्तोऽभिषिक्त्रे ब्राह्मणाय हिरण्यं दद्यात् । सहस्रं दद्यात् । क्षेत्रं चतुष्पाद् दद्यात् । अथाप्याहुः-असंख्यातमेवापरिमितं दद्यात् । अपरिमितो वै क्षत्रियः ।" ऐतरेय । ८ । २० ॥

एतेनोपार्जितधनस्य सत्पात्रेषु निक्षेपेण देशस्य माङ्गल्यमेव सूचयति । अन्यच्च—असंख्येयापरिमितद्रव्यविश्राणनं राज्यस्यात्यन्तिकं सुखित्वमवगमयति । सर्वस्य सर्वस्मिन् महाभिषेकेऽपरिमितदानविधिर्भवति । तथापि श्रूयते-महाभिषेकेणाभिषिक्ता बभूवुरनेके राजान इति । तथाहि—

एतेन ह वा ऐन्द्रेण महाभिषेकेण तुरः कावषेयो जनमेजयं पारिक्षितमभिषिषेच ॥ १ ॥

में बड़ी शान्ति थी और क्षुधा से मरण का अभाव था और द्वितीय आख्यायिका तो विस्पष्टतया कहती है कि राजा अश्वपति के राज्य में चोरी आदिक किञ्चित् अत्याचार नहीं था ।

और भी सुनो—जब राजा अभिषिक्त होवे तब वह अभिषेक्ता ब्रह्मवित् पुरुष को हिरण्य देवे क्षेत्र और चतुष्पद् पशु देवे । दूसरे आचार्य्य कहते हैं कि असंख्यात अपरिमित धन देवे, क्योंकि क्षत्रिय अपरिमित होता है ॥

यह वृत्त उपार्जित धन को सत्पत्रों में रखने से देश के मङ्गल को ही दिखला रहा है और असंख्येय अपरिमित द्रव्य के दान की विधि गमक हैं कि राज्य में अत्यन्त सुख था । सब के सब महाभिषेक में अपरिमित दान की विधि होती है । तथापि सुना जाता है कि अनेक महाराज महाभिषेक से सिक्त हुए । इसमें ऐतरेय ब्राह्मण के बहुत प्रमाण हैं उनमें से कुछेक प्रमाण यहां देते हैं ॥

इसी परमैश्वर्य्यप्रद महाभिषेक से तुर कावषेय ऋषि ने जनमेजय पारिक्षित को अभिषिक्त किया था ॥ १ ॥ इसी ऐन्द्रमहाभिषेक से च्यवन भार्गव

एतेन ह वा ऐन्द्रेण महाभिषेकेण च्यवनो भार्गवः शार्य्यातं मानवमभिषिषेच ॥ २ ॥ एतेन ह वा ऐन्द्रेण महाभिषेकेण सोमशुष्मा वाजरत्नायनः शतानीकं शात्राजितमभिषिषेच ॥ ३ ॥

एवमेव-आम्बाष्ठ्यः, युधांश्रेष्टि रौग्रसैन्यः,विश्वकर्मा भौवनः । सुदाःपैजवन इत्यादयो बहवो राजानोऽभिषिक्ताः । ऐतरेयब्राह्मणेऽष्टमपञ्चिकां पश्य । श्रूयते किल पुरा सर्वस्वदक्षिणो विश्वजिन्नाम यज्ञो बभूव। यत्र राजभिस्तद्दिनान्तागतानि सर्वस्वानि प्रजाभ्यो दीयन्ते । कथमीदृश्यः प्रजाः दुःखिता भवितुमर्हन्ति कथञ्च राज्ये प्रजोपद्रवः। यत्र यस्य यदेवाभीष्टं तदेव मनोरथपूरं प्रदीयते। एतेन सिद्ध्यतितराम्-चिरन्तनकालेऽपि महती शान्तिर्मनुष्यता च, परन्तु न सर्वदा समानता।अतोपि चिरन्तनदृष्टान्तैरद्यापि तथा समयो भवितुमर्हतीत्याशां कर्तुं कल्पाः।

महर्षि ने मनुपुत्र शार्य्यात को अभिषिक्त किया ॥ २ ॥ इसी ऐन्द्र महाभिषेक से सोमशुष्मा वाजरत्नायन ने शत्राजित के पुत्र शतानीक को अभिषिक्त किया ॥ २ ॥

इसी प्रकार आम्बाष्ठ्य, युधाश्रेष्टि औग्रसैन्य, विश्वकर्मा भौवन, सुदा पैजवन इत्यादि अनेक राजा अभिषिक्त हुए हैं । जिनको अपरिमित धन प्रजाओं में बांटना पड़ा । ऐतरेय ब्राह्मण अष्टम पञ्चिका देखो । और भी सुनते हैं कि पूर्वकाल में राजा लोग सर्वस्व दक्षिणा नाम यज्ञ करते थे । जिसकी पूर्ति के उद्देश से उस दिन तक जो कुछ धनधान्य आते थे वा घर में विद्यमान है सब ही धन प्रजाओं में बांट दिया जाता था । कैसे ऐसी प्रजाएं दुःखिता हो सकती हैं और कैसे ऐसे राज्य में उपद्रव हो सकता । जहां जिसका जैसा अभीष्ट रहता वह मनोरथ भर दिया जाता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि पुरातन काल में भी कभी २ बड़ी शान्ति और मनुष्यता थी । परन्तु सर्वदा समानता नहीं रही । अतः चिरन्तन दृष्टान्तों से आज भी हम आशाबद्ध हो सकते हैं कि वैसा ही समय आज भी हो सकता है । अब दूसरी बात यह है कि मान लिया जाय कि पूर्वकाल

पुरा विवेकोनोदियायेत्यपेशलंवचः । सर्वेषु युगेषु मनुष्यधर्मसाम्यात् । अन्यच्च । यत्पुरा नाभवत्तदद्यापि न भवति न च भविष्यतीत्यपि नियमो न विद्वद्भिः स्वीकरिष्यते । विनिगमकाभावात् तद्विपरीतदर्शनाच्च । वैशेषिकन्यायशास्त्रद्वयं कणभक्षाक्षिचरणाभ्यां प्राङ् नासीदिति निश्चीयते आसीदपि न तादृशम् । आग्नेयशकट-विद्युत्तार-छायाग्राहियन्त्र-ग्रन्थमुद्रायन्त्र-शब्दग्राहियन्त्र-दूरवीक्षण-परमाणुवीक्षण-व्यवहित पदार्थवीक्षणयन्त्र-नूतननूतनाग्नेयविद्याऽस्त्रविद्या प्रभृतयो विद्याः पुरा नासन् आसन्नपि मध्ये विनष्टाः पुनरपि नव्यैःप्रकाशिताः । इत्थं पदार्थविद्या-भूगर्भविद्या-पशुपक्षिविद्यादयोऽनेका अभिनवोदया विद्याः प्रतिभान्ति जगति । वेदे विद्यमानापि महर्षिभिर्ज्ञातापि आकर्षणविद्या मध्ये सर्वथैवोच्छिन्नमूलिका पुनरपि पाश्चात्यैः स्वविवेकबलेन प्रकाशिता । इत्थमहरहरिदानीमपि आचार्य्या नूतनं नूतनमाविष्कारं कुर्वन्तो दृश्यन्ते । अन्यच्च । पुरायुगीना एव

देश में विवेकोदय नहीं हुआ । क्या इससे यह सिद्ध होगा कि जो पूर्व में नहीं था वह अब न होता और न होगा । इस नियम को कौन विद्वान् स्वीकार करेगा । देखो—वैशेषिक न्याय ये दोनों शास्त्र कणाद और गौतम के पूर्व नहीं थे यह निश्चय है । यदि थे भी तो वैसे नहीं । आग्नेयशकट (रेलगाड़ी) विद्युत्तार (बिजली का तार) छायाग्राहीयन्त्र (फोटोग्राफी) ग्रन्थमुद्रायन्त्र (छापाख़ाना) शब्दग्राही (फोनोग्राफी) दूरवीक्षण, परमाणुवीक्षण व्यवहितपदार्थवीक्षणयन्त्र नूतन नूतन आग्नेयविद्या अस्त्र विद्याएं आदि पूर्व में नहीं थीं । यदि थीं भी तो मध्य में विनष्ट होगई थीं यह स्वीकार करना पड़ेगा । परन्तु वे सारी विद्याएं अभी विद्वानों ने प्रकाशित की हैं। इसी प्रकार पदार्थविद्या, भूगर्भविद्या, पशुपक्षि—सम्बन्धी विद्या प्रभृति अनेक विद्याएं जगत् में नवीन ही आविर्भूत हुई हैं । आकर्षण विद्या यद्यपि वेद में विद्यमान थी और ऋषियों को भी विदित थी तथापि मध्य में यह समूल नष्ट होगई पुनरपि पाश्चात्य विद्वानों ने निज विवेक बल से प्रकाशित की । इस प्रकार दिन दिन आज भी आचार्य्यगण नूतन नूतन आविष्कार करते देखे जाते हैं । इस हेतु सब समय में मनुष्यों की विद्या और विवेक की वृद्धि हो सकती है । और यह भी विचारो कि पूर्व युग के ही मनुष्य विवेकी हुए आजकल के

विवेकिनो बभूवुर्नाद्यतना न तथा भविष्यन्तीत्यत्र हेतुः कोपि वाच्यः । कालधर्मश्चेत् । अज्ञानिनामियंकथा । नहि नित्यो विभुरचेतन एकरसः कालो न्यूनाधिक्येन विशेषाविशेषं जनयेत । तथा च सांख्यसूत्रम् । " न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात् । १ । १२॥" ननु इह हि शीतर्त्तुमपेक्ष्य ग्रीष्मर्तौ कुशला अपि स्वस्था अपि न तावन्ति कार्य्याणि सम्पादयन्ति । निरुपद्रवे च समये भूयान् व्यापारोदयो विद्योपचयो विविधकलाभिर्भावश्च श्रूयते । सोपप्लवे च समये न तथा दृश्यते । यौवने च यथा कार्य्यक्षमता न तथा वार्द्धके इदं च कालस्य वृद्धत्वं प्राप्तम् । अन्यच्च । अनुमीयतां तावत् कश्चित् सर्वसम्पन्नो देशः केनापि समरप्रियेणाविवेकिना राज्ञा वा वीरेण वा नितरां विदलितः विनाशितनिखिलबुधकुल उच्छिन्नराजन्यगण उत्खातितधनहेतुकवैश्य-

वैसे नहीं हो सकते इसमें कोई हेतु भी कहना चाहिये । यदि कहो कि इसमें काल धर्म ही हेतु है तो यह कथन अज्ञानियों का सा है क्योंकि नित्य, विभु, अचेतन, एकरस, काल न्यूनाधिकता से विशेषाविशेष को उत्पन्न नहीं कर सकता । सांख्यशास्त्र कहता है कि काल से बन्धन वा मुक्ति नहीं होती, क्योंकि काल व्यापी नित्य और सब से सम्बन्ध रखने वाला है । यदि कालकृत बन्धन हो तो मुक्त पुरुष को भी बन्धन होजाय । क्योंकि यहां पर भी काल है । अर्थात् जो काल सत्ययुग में था वही काल आज भी है काल से यदि किसी को विघ्न होता तो सामान्यरूप से सब युग वालों को होना चाहिये । यहां शङ्का होती है कि शीत ऋतु की अपेक्षा ग्रीष्म ऋतु में कुशल भी स्वस्थ भी मनुष्य उतने कार्य सम्पादन नहीं करते । यह काल का ही प्रभाव है । निरुपद्रव समय में बहुव्यापारोदय, विद्योपचय, विविधकलाभिर्भाव सुना जाता है, परन्तु उपद्रव–सहित समय में नहीं । और भी सुनो यौवनावस्था में जैसी कार्य्यक्षमता होती वैसी वार्द्धक में नहीं । अब कालरूप पुरुष की वृद्धता प्राप्त होगई । और यह भी अनुमान करो कि एक देश सर्वगुणसम्पन्न है उसको किसी समरप्रिय अविवेकी राजा वा वीर ने अत्यन्त विदलित कर वहां के सकल विद्वान् कुलों को नष्ट, राजकुलों को उच्छिन्न करदे और धनहेतु वैश्य जाति को उखाड़ डाले तब

जातिः । तदा तस्य कीदृश्यवस्था भविष्यति । कोला भीलाः किरातादयश्च आर्य्यैर्विद्दलिता अद्यापि वन्यदशाया वहिर्गन्तुं न समर्थाः । एष सर्वः कालस्यैव प्रभावः । इत्याशङ्कायां समाधत्ते-प्रकृतेः सर्वदा साम्यादृतूनामुदाहरणं तुच्छतरम् । य एवर्तवः पुरा त एवेदानीमपि । ग्रीष्मर्तुरपि न सर्वत्र समानः बदरिकाश्रमे ग्रीष्मर्तुरेव कार्यसम्पादकः । हिमालयेपि तथा । तथा मनुष्यः स्वबुद्धिबलेन आतपेऽपि धारागृह-जलोक्षितवीरणावरणादिकनिष्पादनेन सर्वत्र शीतर्तुं कर्तुं समर्थः । अथवा तादृशं स्थानं परित्यज्य कार्ययोग्यं स्थानान्तरमाश्रयितव्यम् । पुरा निरुपद्रवोदेश आसीदिति प्रशंसामात्रम् । नित्यस्य विभोः कालस्य वयोवस्थाविचारस्तु बालप्रलापसमः । कोलभीलनिदर्शनेन कालप्रभावसिसाधयिषापि न विवेकिनां मनोभिरञ्जिका । न वयं हि ब्रूम एकत्रैवाभ्युदयः । सार्वभौमोऽयंप्रस्तावः क्वचिदभ्युदयः क्वचिद्ध्रास इति प्रकृत्यैव जायते । विजयिषु जायतान्तद्धिह्याभ्युदयः । अतो न कालधर्मः कारणं तत्र ।

उस देश की क्या अवस्था होगी । कोल भील और किरातादि आर्य्यों से विदलित हो आज भी वन्य दशा से बाहर नहीं निकल सकते । यह सब काल का ही प्रभाव है उत्तर—ऋतुओं का उदाहरण ठीक नहीं क्योंकि सब युग में ऋतुओं की समानता है जो ऋतु पहले थे वे अब भी हैं । ग्रीष्मऋतु की सर्वत्र समानता नहीं। बदरिकाश्रम में ग्रीष्म ऋतु ही कार्यसम्पादक है हिमालय पर्वत और उस के समीपदेशों में भी यही दशा है और मनुष्य अपनी बुद्धिबल से आतप में भी धारागृह, जलोक्षित खसखस की टट्टी आदियों के निष्पादन से सर्वत्र शीतऋतु करने में भी समर्थ है अथवा वैसे स्थान को त्याग कार्य्ययोग्य अन्यस्थान का आश्रय करलेवे । उपद्रव के सम्बन्ध में इतना कहना पड़ता है कि पूर्व समय में उपद्रव नहीं था यह केवल प्रशंसामात्र ही और आप भी इसको स्वीकार कर चुके हैं । काल की वयोवस्था का विचार बालक-प्रलाप के समान है । और कोल भील आदिकों के उदाहरण से काल प्रभाव को साधने की इच्छा भी विवेकी जनों का मनोभिरञ्जक नहीं है हम यह नहीं कहते हैं कि एक ही स्थान में अभ्युदय वा अपचय हो यहां सम्पूर्ण पृथिवी से सम्बन्ध रखनेहारा यह प्रस्ताव है । एक नष्ट होता है

आयुर्विचारः ॥

सम्प्रत्यायुषां ह्रासान नाभ्युदयसम्भव इति नितरां मिथ्याप्रलापः। वेदेषु सर्वकालायुःसमानत्ववचनात् । तद्यथा। इयं नार्युप ब्रूते पूल्यान्यावपन्तिका । दीर्घायुरस्तु मे पतिर्जीवाति शरदःशतम् ॥ १ ॥ दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदःशतम् ॥ २ ॥ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः

और एक उदित होता है। एक द्वीप का अभिभव दूसरे का विजय यह सार्वकालिक नियम है। विजयी पुरुषों में ही तब तक विद्या आदि का उदय होवे। इस हेतु इसमें काल धर्म कारण नहीं हो सकता ॥

आयुर्विचार ॥

यदि यह कहा जाय कि आज कल के पुरुषों की आयु कम होगई है पहले बहुत जीते थे इस हेतु पूर्ववत् आज के लोग नहीं हो सकते सो यह कथन भी उचित नहीं। यह अत्यन्त मिथ्या प्रलाप है। क्योंकि वेदों में सब काल के लिये आयु समान ही कहा गया है। देखो—"इयंनारी" इत्यादि मन्त्रों में १०० ही वर्षों की आयु का वर्णन है। अथ मन्त्रार्थः ॥ (इयम्+नारी) विवाह सम्बन्धी यह मन्त्र है। यह स्त्री (उपब्रूते) ईश्वर से प्रार्थना करती है कि (मे+पतिः+दीर्घायुः+अस्तु) मेरे पति दीर्घायु होवें (शरदः+शतम्) १०० वर्ष (जीवाति) जीवें (अस्याः) इस नवोढा स्त्री के (यः+पतिः+दीर्घायुः) जो पति है वह दीर्घायु होवे। (शरदः+शतम्) १०० वर्ष (जीवाति) जीवे ॥ २ ॥ आगे प्रार्थना के मन्त्र हैं। (चक्षुः) ज्ञानस्वरूप अथवा नेत्र के ज्योतिःप्रद (देवहितम्) पदार्थमात्र का हितकारी (शुक्रम्) शुद्ध (पुरस्तात्) सामने (उच्चरत्) उदित=हृदय में भासित (तत्) उस प्रत्यक्षादि अगोचर ब्रह्म को मनोवृत्तिद्वारा हम उपासक (शरदः+शतम्) १०० वर्ष (पश्येम) देखें (शरदः+शतम्+जीवेम) उसकी कीर्ति देखते हुए १०० वर्ष जीवें (शरदः+शतम्+शृणुयाम) उसकी कृपा से उसकी विभूति को १०० वर्ष सुनें (शरदः+शतम्+प्रब्रवाम) १०० वर्ष व्याख्यान करें (शरदः+शतम्+अदीनाः+स्याम) सौ वर्ष अदीन होवें (शरदः शतात् भूयः) पुनः १०० वर्ष उस तेज को देखें। पुनः विवाह के ये मन्त्र हैं—वर कन्या से कहता है

यजुर्वेदः

शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ ३ ॥ जरां गच्छ परिधत्स्व वासः······· । शतं च जीव शरदः सुवर्चाः········· । शतञ्च जीवामि शरदः पुरूचीः । कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः"इत्यादीनि वेदवचनानि मनुष्यस्य शतायुष्ट्वमामनन्ति । ऋषयोपि शतायुर्वै पुरुष इत्येव निश्चिक्युः ।

ननु शतशब्दस्य बहुनामसु,अनन्तसंज्ञासु च पाठात् तेन परिमित-शताब्दी निर्णेतुं न शक्या। तथा दृश्यतेऽपि । इदानीमपि कोऽपि शरदः शतमतिक्रम्य मृतो दृष्टः। अतो न शतशब्दोऽवधारयिता । अत्र समाधत्ते । अन्यदप्युक्तं वेदे तदपि विचार्य निर्णेतव्यम् ॥"त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् । यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् । " पूर्ववचनैस्तु सामान्यतो नृणामायुर्वर्षशतं विधाय

(जराम्+गच्छ) पूर्णावस्था को प्राप्त होवो । ईश्वर की प्रार्थनापूर्वक (वासः+परिधत्स्व) वस्त्र पहिनो (शतम्+च+जीव) १०० वर्ष जीवो (सुवर्चाः) शुभ्रतेज वाली होवो···············ईश्वर स्वयं कहता है कि मनुष्य (कर्माणि) वेदविहित शुभकर्मों का (कुर्वन्+एव) अनुष्ठान करता हुआ ही (इह) इस लोक में (शतम्+समाः) १०० वर्ष (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे, इत्यादि वेदवचन मनुष्य की १०० वर्ष की आयु को दिखलाते हैं ।

ऋषि लोगों ने भी "शतायुर्वै पुरुषः" ऐसा ही निश्चय किया है ।

इसमें कोई शङ्का करते हैं कि शत शब्द " बहु " और " अनन्त " नामों में पठित है अर्थात् शत शब्द का अर्थ बहुत और अनन्त है । इस हेतु परिमित १०० वर्ष निर्णय करना उचित नहीं और वैसा देखा भी जाता है । आज कल भी कोई कोई १०० वर्ष को अतिक्रमण करके मरा हुआ देखा गया है । कोई १२० वर्ष बीतने पर मरता है। इस हेतु इन वेदमन्त्रों में आया हुआ शतशब्द अवधारणवाची नहीं किन्तु बहुवाची है ।इस शङ्का का यह समाधान है कि आपका कथन ठीक नहीं है अन्य बात भी वेद में कही गई है उसका भी विचार कर निर्णय करना चाहिये। " त्र्यायुषं जमदग्नेः " इस मन्त्र में त्रिगुण आयुष का प्रमाण मिलता है । अर्थात् सामान्यतः मनुष्यों की आयु १०० ही वर्ष परिमित है । किसी योगी की समाधि

कस्यचिद्योगिनः समाध्याद्युपायैः कदाचित् त्रिगुणितं भवितुमर्हतीति अस्माद् वेदवचनाल्लभ्यते । अन्यथा विकल्पेन युगभेदेन वाऽऽयुषः परिमाणेन विहितेन भाव्यम् । तथा च क्वचिदपि शतशब्दवत् सहस्रायुतलक्षादिः शब्दोपि प्रयोक्तव्यः । न तत्प्रयोगः क्वचिदाम्नायते । अतोऽनुमीयते शतशब्दो मध्यम-संख्यावाचकः । यथा लोकेऽस्य पुरुषस्य प्रायः विंशतिर्गावः सन्तीति वाक्यं न त्रिंशतोऽधिका न च दशभ्योन्यूना अपि प्रत्याययति । अत्र विंशतिशब्द स्तत्समीपस्थसंख्यामपि समुच्चिनोति । किन्तु न दूरस्थां संख्यां त्रिंशतं चत्वारिंशतम्वा संगृह्णाति । न्यूनतायामपीदृशी व्यवस्था ।

आदि उपायों से कदाचित् वह आयु त्रिगुणित हो सकती यह पूर्वोक्त वेदवचन से लाभ होता है । यदि ऐसा न माना जाय तो विकल्प करके अथवा युग के भेद से आयु का परिमाण विहित होना चाहिये था और कहीं भी शत शब्द के समान सहस्र (१०००) अयुत (१००००) लक्ष (१०००००) आदि शब्द का भी प्रयोग करना था । परन्तु वैसा प्रयोग कहीं भी विहित नहीं । इससे अनुमान होता है कि १०० (सौ) वर्ष और कुछ अधिक आयु की अवधि है । यह शत शब्द मध्यम संख्यावाचक है । जैसे लोक में कहते हैं कि इसको प्रायः २० गायें हैं । इस कथन से यह नहीं आता है कि इसको २० ही गायें हैं किन्तु ३० से अधिक नहीं और १० से कम नहीं यह प्रतीत होता है । यहां विंशतिशब्द स्वसमीपस्थ संख्या का भी बोधक है । परन्तु दूरस्थ संख्या तीस वा चालीस का भी संग्रह करनेहारा नहीं । अन्यथा तीस चालीस शब्द का ही प्रयोग करता । न्यूनता में भी यही व्यवस्था है । अर्थात् ऐसे स्थलों में संख्यावाचक शब्द स्वसमीपस्थ संख्या का भी ग्राहक होताहै । इस हेतु वेदस्थ शतशब्द स्वसमीपस्थ ११०, १२०, १३०, १४०, १५० और ६०, ८०, ९० आदि का ग्राहक हो सकता इससे अधिक का नहीं अर्थात् २००, ३०० आदि का बोधक नहीं हो सकता । क्योंकि तब द्विशत त्रिशत शब्द का प्रयोग होना ही उचित होता इसी हेतु त्र्यायुष मन्त्र की भी आवश्यकता हुई, इससे यह सिद्ध हुआ कि शत शब्द से सौ से अधिक का ग्रहण हो सकता । अतः १२० वा १३० वा १५० वर्ष तक जीकर मरने में कोई दोष नहीं

ननु कश्चिज्जातः सन्नेव म्रियते । कथमेतत् । भवतामाशयस्तु नवतेर्वा अशीतेर्वा सप्ततेर्वा पञ्चाशतो वा न्यूनेन नायुषा भाव्यम् । इत्थमूर्ध्व-गणनायामपि पञ्चाशदुत्तराच्छतादधिकमायुर्न भवितुमर्हति । अत्र समाधीयते । अत्र जीवनकालस्यैव परिमाणं विहितं न मरणकालस्य । अयमाशयो यदि मनुष्यः पूर्णायुः स्यात् तदापि शतं वर्षाणि जीविष्यति । मध्यमसंख्यान्यायात् पञ्चाशदधिक-शतवर्षाण्यपि जीवेत् । न ततोप्यधिकमितिनिर्णयः । योगिनान्तु त्र्यायुषं जीवनम् । यथा दण्ड्यस्य कारागार-निवासावधिः क्रियते । अवधिं समाप्य न पुनस्तत्र क्षणमपि स्थाप्यः । यदि च तस्य शुद्धाचारः सद्व्यवहारश्च भवति । तदा प्रागपि अवधेर्मोचनीयः । अयमाशयो दण्डयमवधेरधिकं क्षणमपि बन्धयितुं न शक्नोति । मोचनन्तु प्रागपि कर्तुं समर्थः । एवमेव दार्ष्टान्तिकेऽपि योज्यम् । अन्यच्च--सत्ययुगीनेषु प्राचीनतमेषु ग्रन्थेषु मनुष्य-जीवन-व्यवस्था-

---

पुनः शङ्का होती है कि कोई तो उत्पन्न होता ही मर जाता है और आप का आशय तो यह प्रतीत होता है कि नवतिं (९०) वा अशीति (८०) वा सप्तति (७०) वा पञ्चाशत् (५०) से न्यून आयु नहीं हो सकती । इसी प्रकार ऊर्ध्व गणना में भी १५० से अधिक नहीं । तब क्यों इससे न्यून अवस्था में आदमी मर जाता । सुनो—यहां केवल जीवनकाल का ही परिमाण विहित है मरण का नहीं । अर्थात् यह आशय है कि यदि मनुष्य पूर्णायु होवे तथापि शत वर्ष ही जीवेगा अर्थात् मध्यम संख्या-न्याय से ५० वर्ष अधिक शत वर्ष पर्य्यन्त जीवेगा उससे अधिक नहीं, यह निर्णय है । और योगियों का त्र्यायुष भी जीवन है । इसमें यह एक दृष्टान्त भी है जैसे अपराधी पुरुषों की कारागार-निवास की अवधि की जाती है । अवधि को समाप्त कर क्षणमात्र भी उसको वहां नहीं रख सकते, परन्तु यदि उसका शुद्ध आचार और शुद्ध व्यवहार हो तो अवधि के पहिले भी छूट सकता है अर्थात् दण्डनीय पुरुष को अवधि से अधिक क्षणमात्र भी बांध नहीं सकते, परन्तु अवधि के पूर्व छोड़ सकते हैं । अच्छे आचरण देख जब चाहे तब छोड़ दे । इसी प्रकार मरण का नियम नहीं, जीने का नियम है । सत्ययुग के अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थों में मनुष्य के जीवन की व्यवस्था सम्बन्धी

मस्तावो यादृश उपबद्धस्तादृगेव सम्प्रत्यपि दृश्यते । प्रथमं तावद्वेदानुशासनमेव दृश्यताम्—

दशमासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि । निरैतु जीवोऽअक्षतो जीवो जीवन्त्याअधि । ऋग्वेद ५ । ७८ । ९ ॥ इतिवेदवचनाद्दशमासावधिर्मातृगर्भनिवासो विहितः । इदानीमप्ययमेवावधिः ।

अन्यच्च—"भोः किं पुण्यमिति ब्रह्मचर्यमिति । किं लोक्यमिति ब्रह्मचर्यमेवेति । तस्मा एतत्प्रोवाच । अष्टाचत्वारिंशद्वर्षं सर्ववेदब्रह्मचर्यं, तच्चतुर्धा वेदेषु व्यूह्य द्वादशवर्षं ब्रह्मचर्यम् । द्वादशवर्षाण्यवरार्धमपि स्नायंश्चरेद् यथा शक्त्यपरम् ।" गो० ब्रा० २ । ५ ॥

इत्येवंविधगोपथब्राह्मणवचनात्सत्ययुगेऽपि अष्टाचत्वारिंशद्वर्षं ब्रह्मचर्यं

प्रस्ताव जैसा कहा है आज भी वैसा ही देखते हैं, दोनों में अन्तर कुछ नहीं पाते । प्रथम वेद का अनुशासन ही देखो—

गर्भवास सम्बन्ध में वेद कहता है कि—(कुमारः) गर्भस्थ बालक (अधि मातरि) मातृगर्भ में (दश+मासान्+शयानः) दश मास वास करके (अक्षतः+जीवः) निरुपद्रव जीवित (निरैतु) निकले और माता को भी किसी प्रकार की क्षति न पहुंचे । इस वेद वचन से दश मास के अभ्यन्तर ही सब की उत्पत्ति की व्यवस्था है । यही आज भी मनुष्य में नियम देखते हैं ।

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में देखो कोई पूछता है (भोः किं पुण्यम्) हे आचार्य ! पुण्य क्या है (ब्रह्मचर्यम्+इति) ब्रह्मचर्य ही पुण्य है (किं लोक्यम्) हे आचार्य ! किस कर्म से अच्छा लोक प्राप्त होता है (ब्रह्मचर्यम्+एव+इति) लोकप्रद भी ब्रह्मचर्य ही है (तस्मै+एतत्+प्रोवाच) तब आचार्य ने उससे कहा कि हे शिष्य ! (अष्टाचत्वारिंशद्वर्षम्) ४८ (अड़तालीस) वर्ष (सर्ववेदब्रह्मचर्यम्) सब वेदों के लिये ब्रह्मचर्य है अर्थात् चारों वेदों के लिये ४८ वर्ष का ब्रह्मचर्य है (तत् चतुर्धा+वेदेषु+ व्यूह्य+द्वादशवर्षम्+ब्रह्मचर्यम्) विभाग करके प्रत्येक वेद के लिये १२ वर्ष का ब्रह्मचर्य है यदि इतना भी न हो सके तो ६ (छः) वर्ष का ब्रह्मचर्य रक्खे ।

यह गोपथ ब्राह्मण का वचन है । सत्ययुग में भी सब वेदों के लिये ४८ वर्षों

विहितं सर्ववेदाध्ययनार्थम् । एकवेदाय द्वादशवर्षम् । इदानीमपि साङ्गान् सोपाङ्गान् सब्राह्मणान् सोपनिषत्कान् चतुरो वेदान् अष्टाचत्वारिंशद्वर्षैरेव समापयितुं शक्नोति । द्वादशवर्षैः पुनरेक एव वेदः समापयितुं शक्यः । पुनः—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्य्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥

इत्यनेन मनुवचन-प्रामाण्येनापि सत्ययुगीनानामपि वेदत्रयाय षट्त्रिंशद्वर्षं ब्रह्मचर्यं दृश्यते । इदानीमपि एतावान् कालावधिः । यदि सत्ययुगीनानां लक्षवर्षमायुः स्यात् तर्हि तच्चतुर्थांशकालिकं ब्रह्मचर्यं विधेयम् । तच्च न क्वापि दृश्यते । पुनरपि छान्दोग्योपनिषदि "पुरुषो वाव यज्ञ" इत्युपक्रम्य पुरुषस्य षोडशोपेतं शतवर्षमायुः परिगणितम् । "तत्र यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातः सवनम्" । "अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनम्" । "अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीय सवन" मिति पुरुषे यज्ञत्वाध्यारोपेण प्रदर्शितम् । खण्डान्ते-एतद्यज्ञविद् ऐतरेयो महीदासः षोडशं वर्षशतमजीवत् । "प्र ह षोडशं

का ही ब्रह्मचर्य विहित है । एक २ वेद के लिये १२ वर्ष हैं आज भी अङ्ग, उपाङ्ग ब्राह्मण और उपनिषद् सहित चारों वेदों को ४८ वर्षों में पढ़ सकते हैं । द्वादश वर्ष में केवल एक ही वेद साङ्गोपाङ्ग समाप्त कर सकता । (षट्त्रिंशद्) तीन वेदों के लिये ३६ वर्ष का ब्रह्मचर्य्य होना चाहिये । अर्थात् १२ बारह प्रत्येक वेदों के लिये इस प्रकार चारों वेदों के लिये ४८ वर्ष होंगे । अशक्यावस्था में अर्ध वा एकपाद ९ ब्रह्मचर्य रक्खे । इस मनुवचन के प्रमाण से भी सत्ययुगियों के लिये भी ३६ वा ४८ वर्ष ब्रह्मचर्य विहित है । आज भी उतना ही काल तक है । यदि उस समय लक्ष वर्ष आयु होता तो उसका चतुर्थांश ब्रह्मचर्यकाल कहना उचित था परन्तु सो कहीं नहीं देखते । पुनरपि छान्दोग्योपनिषद् में यह दिखाया गया है कि पुरुष ही यज्ञस्वरूप है । इतना कह पुरुष की आयु ११६ वर्ष नियत की है । उनमें २४ वर्षों का प्रातःसवन, ४४ वर्ष का माध्यन्दिनसवन, ४८ वर्ष का तृतीय सवन । पुरुष में यज्ञ का अध्यारोप करके यह वर्णन है और उपसंहार में उस यज्ञ के तत्त्वविद् मही-

वर्षशतं जीवति य एवं वेद" इति फलं च दर्शयामास । यज्ञतत्त्वविदोपि सत्ययुगीनस्यापि अनूचानस्यापि ऐतरेय-ब्राह्मणस्य प्रणेतुरपि महीदासस्य षोडशोत्तर-वर्षशतमायुः प्रदर्शितम् । इदानीमपि सदाचारवान् पुरुषस्तावताऽऽयुषा जीवन् दृष्टः । अग्रे प्राकृतभाषायामेव प्रकृत विषयोऽवलोकनीयः । ग्रन्थबाहुल्यात् संस्कृतं परिहीयते ।

दास ११६ वर्ष जीते रहे यह दिखलाया गया है । और जो कोई इसको जानता है वह भी उतनी आयु पावेगा ऐसा फल कहा गया है । अब विचार करो कि सत्ययुग-निवासी, अनूचान, यज्ञतत्त्ववित्, महीदास ऐतरेय की भी ११६ वर्ष आयु कही गई है आज भी सदाचारवान् पुरुष उतनी आयुष से जीता हुआ देखा गया है । आगे प्राकृत भाषा में ही इस विषय को देखो ।

यदि सत्ययुगी पुरुषों की आयु लक्ष वा अधिक वर्ष की होती तो उनके लिये ब्रह्मचर्य के भी वर्ष अधिक होने चाहिये । क्योंकि सम्पूर्ण आयु को चार विभागों में बांटकर तदनुसार चार आश्रम विहित हैं । ब्रह्मचर्य्य के लिये कुछ अधिक वर्ष दिये गये हैं क्योंकि विद्याध्ययन मुख्य कर्त्तव्य है । सो भी सब के लिये नहीं । पक्षान्तर में प्रायः चतुर्थ भाग ही होवेगा, क्योंकि मनुजी के अनुसार:—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत—ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
गर्भादेकादशे राज्ञो—गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥ मनु० २ । ३६ ॥

गर्भ से आठवें वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन होना चाहिये । गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय का और गर्भ से बारहवें वर्ष में वैश्य का । पुनः—

ब्रह्मवर्चसकामस्य—कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे—वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ मनु० २ । ३७ ॥

यदि ब्रह्मतेजस्वी बनाना चाहे तो पञ्चम वर्ष में ब्राह्मण अपने पुत्र का उपनयन करवावें । इसी प्रकार बलार्थी राजा का षष्ठ वर्ष में और धनार्थी वैश्य का अष्टम वर्ष में उपनयन होना चाहिये । अब मानलो कि ५ वें वर्ष में उपनीत होकर मध्यम संख्या १८ वर्ष तक आचार्य कुल में पढ़नें से २३ वें वर्ष में ब्रह्मचर्य समाप्त होता है । परन्तु इतने वर्ष में पूर्ण विद्या जैसे आज नहीं होती वैसी ही पूर्व में न होती थी क्योंकि ३६ वर्ष का ब्रह्मचर्य रक्खा है परन्तु यहां यह भी स्मरण रखना

चाहिये कि पूर्व समय में भी चारों वेदों के वक्ता विरले ही होते थे। एक विद्या में परम निपुणता को प्राप्त होते होंगे। अन्यों में साधारण परिश्रम करते थे। इसी हेतु प्रत्येक वेद के लिये १२ बारह वर्ष ब्रह्मचर्य के हिसाब से प्रायः ठीक २ चतुर्थ भाग होता है। मनुस्मृति के अन्यान्य विषयपर भी यदि विचार किया जाय तो यही विदित होगा कि शतवर्ष परिमित आयु है। देखोः—

"त्रिंशद्वर्षो वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।

३० वर्ष का पुरुष विवाह करे। इससे यह सिद्ध हुआ कि ३० वर्ष तक आचार्य कुल में वास कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। पुनः—

द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ ५। १६९॥

आयु के द्वितीय भाग को गृहस्थाश्रम में बितावे। पुनः—

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः,

अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्।

जब गृहस्थ देखे कि त्वचा शिथिल होगई, केश पक गये और पुत्र का भी पुत्र हो गया तब वानप्रस्थाश्रम का ग्रहण करे। पुनः—

वनेषु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः,

चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत्।

इस प्रकार आयु के तृतीय भाग वानप्रस्थाश्रम में रह आयु का चतुर्थ भाग सब संग छोड़ कर सन्न्यास में बितावे। यद्यपि वानप्रस्थ और सन्न्यास के काल का नियम नहीं तथापि पौत्र जब होजाय तब वानप्रस्थाश्रम को ग्रहण करे यह नियम देखा जाता है। ३० वें वर्ष में पुत्र और ६० वें वर्ष में पौत्र हो जायगा। इससे सिद्ध होता है कि ६० वें वर्ष के अनन्तर वानप्रस्थाश्रम को अवश्य ग्रहण कर लेवे। पुनः ३० वर्ष वानप्रस्थाश्रम करके अर्थात् ९० वर्ष के अनन्तर सन्न्यासका ग्रहण करे। यदि यहां तीस वर्ष तक जीता रहा तो सब वर्ष मिलके १२० एक शत और बीस वर्ष की आयु सिद्ध होती है। अब एक शङ्का यह उत्पन्न होती है कि मनुस्मृति में कहागया है कि—

अरोगाः सर्व सिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः ।
कृतत्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः ॥ मनु० १ । ८३ ॥

सत्ययुग के मनुष्य रोगरहित और बड़े सुखी थे और ४०० वर्ष की आयु उनकी थी । द्वापर, त्रेता और कलियुग में एक २ पाद आयु घटती गई । इससे यह सिद्ध होता है कि पहले चार सौ वर्ष की आयु थी । उत्तर—सुनो थोड़ी देर के लिये मान भी लिया जाय कि सत्ययुग में ४०० वर्ष की आयु थी । तथापि आजकल के लोगों का कथन तथा पुराण का गप्प बिलकुल जाता रहता है क्योंकि पुराण कई एक सहस्र वर्ष की आयु बतलाता है । अब इस पर यह विचार करो कि मनुजी धर्मशास्त्रकर्त्ता सत्ययुग में थे । इनका धर्मशास्त्र सूत्ररूप में था इसी का प्रायः अनुवाद आजकल की मनुस्मृति प्रतीत होती है । संभव है कि पूर्व धर्मशास्त्र से इसमें कुछ न्यूनाधिक्य हो । परन्तु जब यह मनुजी के नाम पर है और इससे प्राचीन श्लोकवद्ध कोई धर्मशास्त्र नहीं मिलता तो इससे निश्चय है कि प्राचीन धर्मशास्त्र के सब विषय लिये गये होंगे । अथवा मुख्य २ विषय तो अवश्य ही लिये गये होंगे । सत्ययुग के ग्रन्थ में उस समय के नियम अवश्य होने चाहिये । अब मनुस्मृति के ऊपर दृष्टि दो तब पता लग जायगा । अधिक से अधिक ३६ वर्ष तक वेद का अध्यन सो भी सब के लिये नहीं । और अधिक से अधिक ३० वर्ष में विवाह, सोभी सब के लिये नहीं इस प्रकार मनु के पूर्वकथनानुसार १२० वर्ष की ही आयु सत्ययुग में सिद्ध होती है । अब जो ४०० वर्ष की आयु कही गई सो केवल उस युग की प्रशंसामात्र है क्योंकि "अरोग" और "सर्व-सिद्धार्थ" ये दो विशेषण भी हैं । क्या सत्ययुग में रोग नहीं था? क्या सब कोई सिद्धार्थ ही थे ? यह कदापि नहीं हो सकता । इसका कोई उदाहरण भी नहीं मिलेगा । ग्रन्थ के विस्तार भय से उदाहरण नहीं देते परन्तु महर्षि विश्वामित्र सदृश पुरुष ने सत्ययुग में ही दुःख पाये । वसिष्ठ और विश्वामित्र में बड़ी लड़ाई हुई । परशुराम ने क्या २ लीला रची थी । यह सब सत्ययुग की ही बात है । अथवा जैसा मैंने त्र्यायुष मन्त्र के ऊपर लिखा है कि योगियों को त्रिगुण आयु प्राप्त हो सकता है सत्ययुग में अधिक योगी थे अतः वैसा कहा है । इसके आगे के श्लोक देखने से भी मनु का भाव विस्पष्ट हो जायगा । देखो:—

वेदोक्तमायुर्मर्त्यानाम् । १ । ८४ ॥

मनुष्यों की आयु जितनी वेद में कही गई है, उतनी जाननी चाहिये। १०० वर्ष की आयु वेदोक्त है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आयु तो सब युग में १०० ही वर्ष की है परन्तु योगाभ्यास से कदाचित् किसी की आयु बढ़ सकती है सो भी ३०० सौ से अधिक नहीं यह भाव है। मनु के सब श्लोक प्रमाण भी नहीं ॥

वैद्यक के प्रमाण—सुश्रुत ग्रन्थ सब से प्राचीन माना जाता है कहा जाता है कि सुश्रुत सत्ययुग में हुए। इस ग्रन्थ का प्रमाण भी देखो—

पञ्चविंशे ततो वर्षे, पुमान्नारी तु षोडशे।
समत्वागतवीर्यौ तु, जानीयात् कुशलो भिषक् ॥

पुरुष और स्त्री क्रम से पच्चीस और सोलह वर्ष की अवस्था में जब प्राप्त होवें तब दोनों का समान वीर्य जानो अर्थात् २५ वें वर्ष में पुरुष और सोलहवें वर्ष में स्त्री युवा होती है। आज भी इतनी ही अवस्था में यौवन प्राप्त होता है। पुनः—

वयस्तु त्रिविधं बालं मध्यं वृद्धमिति। षोडशसप्तत्योरन्तरे मध्यवयः। तस्य विकल्पो वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता हानिश्चेति। तत्राऽऽविंशतेर्वृद्धिरात्रिंशतो यौवमाराचत्वारिंशतः सर्व-धात्विन्द्रिय-बलवीर्य-सम्पूर्णता अत ऊर्ध्वमीषत् परिहानिर्यावत् सप्ततिरिति। सूत्रस्थान सुश्रुत अ० ३५। ५० ॥

अर्थ—अवस्था ३ प्रकार की होती है—बाल, मध्य और वृद्ध, सोलहवें वर्ष की अवस्था से लेकर ७० सत्तर वर्ष की अवस्था पर्य्यन्त मध्य अवस्था होती है। फिर इसके ये भेद हैं—वृद्धि (बढ़ना) यौवन (जवानी), सम्पूर्णता (परिपूर्णता या स्थिति) और हानि (घटाव), जिसमें २० वर्ष तक वृद्धि और तीस वर्ष की अवस्था तक यौवन और चालीस वर्ष की अवस्था में सब धातु उपधातु सब इन्द्रिय और बल वीर्य की पूर्णता होती है इसके उपरान्त ७० सत्तर वर्ष की अवस्था तक कुछ न कुछ घटाव होने लगता है, पुनः—

सप्ततेरूर्ध्वं क्षीयमाण धात्विन्द्रिय बलवीर्योत्साह महन्यहनि वलीपलितखालित्यजुष्टं कासश्वासप्रभृतिभिरुपद्रवैरभिभूयमानं सर्वक्रियास्वसमर्थं जीर्णागारमिवाभिमृष्टमवसीदन्तं वृद्धमाचक्षते। ५१। सूत्रस्थान सुश्रुत संहिता। अध्याय ३५ ॥

अर्थ—सत्तर वर्ष की अवस्था से ऊपर सब धातु इन्द्रिय बल वीर्य्य दिन २ क्षय ही होता जाता है और शरीर की त्वचा में सलवट पड़जाती है । सम्पूर्ण बाल सफ़ेद व पीले पड़ जाते और उड़ भी जाते, खांसी श्वास आदिक उपद्रवों से पीड़ित हो सब कार्यों में असमर्थ होजाता, जैसे—पुराना जीर्ण मकान मेघ वरसने पर गिर पड़ता है ऐसे जीर्ण अवस्था वाले को वृद्ध कहते हैं ॥ ५१ ॥

यह सुश्रुत बहुत प्राचीन ग्रन्थ समझा जाता है यदि सत्य युगादिक में मनुष्य की १०० से अधिक १०००० वर्ष की होती तो वृद्ध भी तो २, ४, सहस्र वर्षों के पश्चात् होता परन्तु ऐसा वर्णन किसी सच्छास्त्र में नहीं देखते इससे भी यही निष्कर्ष होता है कि पूर्व समय में भी इतनी ही आयु होती थी। यहां इसी प्रकार यह भी जानना चाहिये कि उस समय के लोगों के शरीर का आकार भी प्रायः आज-कल के समान ही था क्योंकि वैद्यक में शरीर के प्रत्येक अङ्गों का नाप दिया हुआ है। अङ्गों की लम्बाई चौड़ाई मोटाई आदि सब कुछ लिखी हुई है ।

" सहस्रसंवत्सरशब्दस्य सहस्रदिन परताधिकरणम् "

मीमांसा का प्रमाण—जैसे उत्तर-मीमांसा (वेदान्तशास्त्र) उपनिषदों के अर्थ का वर्णन करती है वैसे पूर्वमीमांसा ऐतरेय आदि ब्राह्मण ग्रन्थों की संगति लगाती है। ताण्ड्यमहाब्राह्मण में ऐसा वर्णन है कि:—

पञ्चपञ्चाशतस्त्रिवृतः सम्वत्सराः । पञ्चपञ्चाशतः पञ्चदशाः । पञ्चपञ्चाशतः सप्तदशाः । पञ्चपञ्चाशतः एकविंशाः । विश्वसृजामयनं सहस्र सम्वत्सरम् ॥ ताण्ड्य महाब्राह्मणम् । २५ । १८ । १॥

यहां "पञ्च पञ्चाशतः" का अर्थ पञ्चगुणित पञ्चाशत् ५० है अर्थात् ५०×५=२५० पचास अधिकदो सौ । "पञ्च पञ्चाशत्" शब्द चार वार आया है अतः २५०×४=१००० सब मिल कर एक सहस्र वर्ष होता है । प्रथम २५० वर्षों में त्रिवृत् स्तोम । द्वितीय २५० में पञ्चदश स्तोम । तृतीय २५० में सप्तदश स्तोम और चतुर्थ २५० वर्षों में एक विंशस्तोम प्रधानतया होता है । अव शङ्का होती है कि १००० वर्ष का यज्ञ ब्राह्मण ग्रन्थों में विदित है सो यह मनुष्यों के लिये है या देवों के लिये या जिसकी आयु सहस्र वर्ष की हो उसके लिये है। इस असमंजस

की निवृत्ति के लिये जैमिनि "सहस्र शब्द का अर्थ एक सहस्र दिन है" इस नाम का एक अधिकरण आरम्भ करते हैं अर्थात् एक वर्ष का अर्थ एक दिन है। इस पर प्रथम पूर्वपक्ष सूत्र लिखते हैं यथा—

"सहस्र-सम्वत्सरं तदायुषामसंभवात् मनुष्येषु" ६ । ७ । ३१ ॥

भाव यह है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में विहित जो सहस्र वर्ष का यज्ञ है वह (तदायुषम्) जिनकी आयु १००० वर्षों की होती है उनके लिये होसकता मनुष्य के लिये नहीं क्योंकि (मनुष्येषु) मनुष्यों में (तदायुषाम्+असंभवात्) उतनी आयु का असंभव है अर्थात् मनुष्य जाति में १००० वर्ष आयु नहीं होती इस हेतु अन्य देवादियों के लिये यह यज्ञ है। मनुष्य के लिये नहीं। इस पर पुनः कहते हैं कि—

"अपि वा तदधिकारात् मनुष्यधर्म्मः स्यात्" ६ । ७ । ३२ ॥

(अपि वा) देवादियों का अधिकार शास्त्र में नहीं है। इस हेतु वह (मनुष्यधर्मः स्यात्) मनुष्य का ही धर्म है क्योंकि (तदधिकारात्) शास्त्र में मनुष्य का ही अधिकार है अर्थात् मनुष्य के लिये ही १००० वर्ष का यज्ञ है क्योंकि यज्ञ करने में मनुष्य का ही अधिकार है। यदि कहो कि मनुष्य की उतनी आयु नहीं फिर कैसे उतने वर्षों का यज्ञ कर सकता है। यदि कहो कि रसायन योग साधन आदि उपायों से आयु बढ़ जायगी, इस पर कहते हैं कि सो नहीं हो सकता।

"नासामर्थ्यात्" सू० ३३ ॥

यह द्वितीय पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है पूर्व में जो कहा गया कि १००० वर्ष के यज्ञ में मनुष्य का ही अधिकार है अन्य का नहीं सो (न) नहीं हो सकता क्यों ? (असामर्थ्यात्) सामर्थ्य नहीं होने से, न इतनी मनुष्य में स्वतः सामर्थ्य है और न औषध आदि से ही उतनी आयु होसकती। इस सूत्र का जो भाष्य है सो लिखकर अनुवाद करे देता हूं।

न रसायनानामेतत्सामर्थ्यं दृष्टम्। येन सहस्रसम्वत्सरं जीवेयुः। एतानि हि अग्नेर्वर्द्धकानि वलीपलितस्य नाशकानि स्वरवर्णप्रसादकानि मेधाजननानि। नैतावदायुषोदातॄणि दृश्यन्ते। ननु स्वरवर्णप्रसादादिदर्शनादेव ज्योग जीवनमप्यनुमास्यते। न इति ब्रूमः। कुतः शतायुर्वैपुरुषः इत्यनु-

वादः । स एवं ज्योग् जीवे न अवकल्पते । अत्र उच्यते शतान्यायुरस्येति विग्रहीष्यामः । नैवं संख्याशब्दानां समास इष्यते । न च गमकानि भवन्ति । द्विवचनबहुवचनान्तानामसमासः इति चाभियुक्तवचनात् ।

अर्थ—(रसायनानाम्) रसायनों का (एतत्सामर्थ्यम्) यह सामर्थ्य (न+दृष्टम्) नहीं देखा गया है (येन) जिससे (सहस्र संवत्सरम्+जीवेयुः) १००० वर्ष मनुष्य जी सके (हि) क्योंकि (एतानि) ये रसायन (अग्नेः+वर्धकानि) अग्नि के वर्धक हैं (वलीपलितस्य+नाशकानि) वृद्धावस्था के कारण से जो केशादि शुक्ल हो गये हैं उनके नाशक हैं (स्वरवर्णप्रसादकानि) उत्तम स्वर और वर्ण के देनेवाले हैं परन्तु (एतावदायुषः+दातॄणि) इतनी आयु के देनेहारे (न+ दृश्यन्ते) नहीं देखे जाते (ननु) इस पर शङ्का होती है कि (स्वरवर्णप्रसादादि दर्शनादेव०) रसायन से उत्तम स्वर और सुन्दर गौरादि वर्ण की वृद्धि होती है यह तो आप भी मानते हैं तब इसी से अनुमान कर लेवेंगे कि (ज्योक्+जीवनम्) अधिक जीवन भी होता है । इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं (न+-इति+ब्रूमः) नहीं । ऐसा नहीं हो सकता (कुतः) क्योंकि (शतायुः वै+पुरुषः) पुरुष की आयु १०० वर्ष ही की है (इति+ अनुवादः) यह वेदों का अनुवाद ब्राह्मण ग्रन्थों में पाया जाता है इस हेतु (सः+एवम्+ज्योक+जीवे+न०) उस पुरुष की आयु की अधिक कल्पना नहीं हो सकती । पुनः शङ्का होती है कि:– (शतान्यायुरस्य इति विग्रहीष्यामः) ॥

" शतायु " यहां " शतानि+आयुः अस्य " ऐसा समास करेंगे तो इससे कई सौ वर्ष आयु होती है यह सिद्ध होगा । इसका उत्तर (नैवम्) ऐसा नहीं हो सकता । क्योंकि संख्या शब्दों में ऐसा समास नहीं होता अन्यथा बड़ी आपत्ति होगी किसी ने कहा कि यह बालक 'पञ्चवर्ष' है (पांच वर्ष का है) अब यहां (पञ्च च पञ्च च पञ्चचेति पञ्च । पञ्चवर्षाणि यस्य स पञ्चवर्षः) ऐसा समास करने पर यह बालक कितने वर्षों का है यह निश्चय नहीं हो सकता ५, १०, १५, २०, २५, ३०, ३५, १००, १०००, १००००, १०००००, १००००००० पांच वर्ष से लेकर कोटियों का अर्थ हो जायगा । फिर संख्यावाचक शब्दों में कोई व्यवस्था ही नहीं रहेगी । इस हेतु संख्यावाचक शब्द में

द्विवचन बहुवचन करके कदापि समाप्त नहीं होता । इस हेतु यह सिद्ध हुआ कि रसायन से केवल बल स्वर वर्ण आदिक की वृद्धि होती है आयु की नहीं । अतः उतनी आयु के असंभव के कारण वह यज्ञ मनुष्य के लिये न कहा जा सकता । अतः अन्य प्रकार से समाधान करते हैं ।

स कुलकल्पः स्यादिति कार्ष्णाजिनिरेकस्मिन्नसंभवात् ॥ सू० ३७ ॥

कार्ष्णाजिनि आचार्य कहते हैं कि (सः) यह "यज्ञ" (कुलकल्पः स्यात्) कुलकल्प है । अर्थात् शास्त्रों में मनुष्य का ही अधिकार है और १००० सहस्र वर्ष का यह यज्ञ कहा गया है (एकस्मिन्+असंभवात्) एक पुरुष में उतनी आयु का होना असंभव है एक आदमी इसको कदापि नहीं कर सकता परन्तु विहित विधि को पूर्ण करना भी उचित है सो जिस प्रकार हो वैसा करना चाहिये । सो "कुलकल्प" के विना नहीं हो सकता । अर्थात् इस यज्ञ को यदि किसी के पिता ने आरम्भ किया हो तो पिता के मरने पर उसके पुत्र करे । इसके बाद इसका पुत्र करे जब तक सहस्र बर्ष पूरा न हो तब तक उसके कुल के लोग इस विधि को पूरा करते जायं इसी का नाम "कुलकल्प है । इस प्रकार से यह यज्ञ समाप्त हो सकता है ऐसा कार्ष्णाजिनि आचार्य का पक्ष है । इस पर अन्य आचार्य कहते हैं ।

अपि वा कृत्स्नसंयोगादेकस्यैव प्रयोगः स्यादिति ॥ ३८ ॥

पूर्व में जो "कुलकल्प" कहा गया है सो भी उचित नहीं क्योंकि (एकस्य+एव+प्रयोगः) एक ही पुरुष का यह कर्त्तव्य हैं (कृत्स्नसंयोगात्) क्योंकि संपूर्ण विधि से संयोग एक ही आदमी का है अर्थात् जो सम्पूर्ण विधि को समाप्त करने में समर्थ हो उसी का यज्ञ में अधिकार है । इसका भी कारण यह है कि प्रयोग करनेवाले में ही फल कहा गया है । इस हेतु "कुलकल्प" भी उचित नहीं, इतना वादानुवाद करके आगे सिद्धान्त सूत्र कहते हैं, यथा

विप्रतिषेधात्तु गुणयन्यतरः स्यादिति लावुकायनः ।

भाव यह है कि सम्वत्सर शब्द या पञ्चपञ्चाशत् शब्द गौण मानना पड़ेगा । यहां सम्वत्सर शब्द ही गौण अर्थ में है यह लावुकायन आचर्य्य कहते हैं इस पर हेतु देते हैं ।

"सम्वत्सरो विचालित्वात्" ॥ ३८ ॥

(विचालित्वात्) सम्वत्सर शब्द विचाली अर्थात् विचलित होने हारा है। अर्थात् यह शब्द केवल वर्ष में ही रूढ नहीं, किन्तु अन्यान्य अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। यहां किस अर्थ में है। इस पर कहते हैं:—

"अहानि वाभिसङ्ख्यत्वात्" ॥ ४० ॥

यहां सम्वत्सर शब्द " एकदिन " के अर्थ में है। इस प्रकरण में सम्वत्सर शब्द दिन वाचक है यह निश्चय किया है।

अब आप विचार सकते हैं कि यदि पूर्व समय में मनुष्यों की अधिक आयु होती तो इतनी शङ्का करने की आवश्यकता न होती और वर्ष शब्द का अर्थ दिन नहीं करते।

और यह भी कदाचित् जैमानि कह देते कि सत्ययुग में इतनी आयु का मनुष्य हुआ करता था अतः ऐसी विधि कीगई अब उतनी आयु न होने से वह यज्ञ नहीं हो सकता। परन्तु वैसा नहीं कहा इससे निश्चय होता है कि जैमिनि आदि आचार्य्य वैदिक आयु के परम विश्वासी थे। मैं बहुत क्या लिखूं ऐसी २ बातें सर्वथा वेदशास्त्रविरुद्ध होने से सब के लिये त्याज्य है। जब कलियुग के लोग अल्पज्ञ होने लगे तबही ऐसी २ कुसंस्कार की बातें फैलाई।

स्फुटबातें—शतक्रतु यह नाम इन्द्र का है, परन्तु इन्द्र नाम जीवात्मा का है यह वर्णन विस्तार से वैदिक इतिहासार्थ निर्णय में देखो। वह जीवात्मा शतक्रतु कहाता है जिसकी १०० सौवों वर्षों की आयु जन्म से लेकर मरण तक क्रतु अर्थात् शुद्ध वैदिक व्यवहार में बीता है और जिसका बाल्यावस्था से मरण पर्य्यन्त जीवन शुद्ध है वही शतक्रतु इन्द्र है। वही जीवात्मा महान् ऐश्वर्य्यशाली होगा अतएव जो शत यज्ञ करेगा वही इन्द्र होगा ऐसी आख्यायिका पुराणों में चली आती है इस शब्द से भी मनुष्य की शतायु सिद्ध होती—

उपनिषदादि ग्रन्थों में ७२००० बहत्तर हज़ार नाड़ियों का वर्णन आता है। यह भी शतायु का प्रदर्शक है जैसे ३६० दिन और ३६० रात्रि का एक वर्ष माना गया है दोनों मिलकर ७२० अहोरात्र होते हैं अर्थात् प्रायः एक वर्ष में ३६० दिन और ३६० रात्रियां होती हैं। अब ७२० को १०० से गुना करो क्योंकि

१०० वर्ष की आयु है अब ७२०+१०० के गुना से ७२०,०० बहत्तर सहस्र हो जाते हैं इन ही आश्रय से जीवात्मा कार्य करता है अतः ये शरीरस्थ नाड़ीवत् नाडियां कहाती हैं । पश्चात् इस का वास्तविक तत्त्व न समझ कर शरीर की नाडियों को ही ७२००० सहस्र मानने लगे । कोई कहते हैं कि श्रीरामचन्द्र आदिक महापुरुष कई सहस्र वर्ष जीते रहे । परन्तु यह बात सर्वथा असत्य है क्योंकि उपनयन के पश्चात् ही विश्वामित्र आके लक्ष्मणसहित राम को यज्ञरक्षार्थ वन लेगये और इसी यात्रा में सब भाइयों का जनकपुर में विवाह होगया । किसी ग्रन्थ से इस समय रामकी उम्र ३० वर्ष से अधिक सिद्ध नहीं होती । प्रत्युत बहुत ग्रन्थकार १६ वर्ष से न्यून ही मानते हैं । एवमस्तु, अब १४ वर्ष रामचन्द्र को तो वनवास मिला इस यात्रा में वालि और रावण आदि शत्रुओं को मार रामचन्द्र की लीला प्रायः समाप्त हो जाती है । अब मैं पूंछता हूं कि कई सहस्र वर्ष जीवन धारण कर श्रीराम क्या करते रहे क्या इसकी दिन चर्या बतला सकते हो । यदि इनकी लीला का सब पूरा हिसाब किया जाय तो सब ही १०० वर्षों के अभ्यन्तर ही समाप्त हो जाती है । अतः अनेक सहस्र वर्ष की आयु कल्पना करनी सर्वथा अज्ञानता की बात है । इति संक्षेपतः ॥

सर्वकाल में आचार्यों की विद्यमानता ।

ननु तर्हीदानीमपि कथं न तादृशा भुवमनुगृह्णन्ति महाभागा इति भवानेव साधय । शृणु-इदानीमपि तादृशो भवन्ति । येषामाचार्याणां ग्रन्थेष्वधीतिनो भूत्वेदानीं पण्डितायन्ते ते सर्वे प्रायः कलिभवा एव । तद्यथा-महाभाष्यकारो भगवान् पतञ्जलिर्पदानां व्याकर्त्ता, कुसुमाञ्जलेर्विरचयितोदयनाचार्यो बहूनामाचार्याणामपि व्याकुलयिता, कृत्स्नस्य सांख्यशास्त्रस्य सप्तत्यैवाऽऽर्याभिः

शङ्का—तब आजकल भी वैसे महाभाग्यवान् पुरुष पृथिवी पर अनुग्रह क्यों नहीं करते आप ही इसको सिद्ध करें । उत्तर—आज भी वैसे होते हैं । जिन आचार्यों के ग्रन्थ पढ़कर आज पंडित बनते वे सब ही प्रायः इसी युग के हैं व्याकरण के विस्तार करनेवाले महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि, बहुत आचार्य्यों को भी व्याकुल करनेवाले कुसुमांजलि आदि ग्रन्थों के कर्त्ता उदयनाचार्य्य, सम्पूर्ण सांख्यशास्त्र के सिद्धान्त को केवल ७० आर्य्या छन्दों में घटानेवाले

संघटयिता श्रीमानीश्वरकृष्णः, सर्वेषां सांख्यादि-शास्त्राणामपि भ्रमप्रदर्शको-ऽद्वैत-सम्प्रदाय-प्रथमाचार्यः श्रीशङ्कराचार्यः, अस्यापि खण्डयिता वैष्णवधर्मस्य व्यवस्थापयिता च श्रीरामानुजस्वामी, ज्योतिःशास्त्रे नूतनगणितानामाविष्कर्त्ता भास्कराचार्यः, इमेऽन्येऽप्यभूषयन् पृथिवीं शतश आचार्या कलावेव। ऐतिह्येन ज्ञायन्तां तेषां नामधेयानि। निशामय नवतममुदाहरणम् यत्स्वल्पेनैव कालेन दिगन्तमप्यतिक्रान्तं जगत्प्रशस्यम्। कैर्हतभाग्यैर्मन्दपुरुषैः भुवनविदित आम्नाय तत्त्वपारदृश्वा निसर्गत एव जनितार्षज्ञानः प्रशमितसमस्तपाखण्डिलीलः पुन-रुज्जीवितमूर्च्छितवेदपुरुषो निरस्तसमस्ताधुनिकविबुधगर्वो भगवान् दयानन्दो न ज्ञायते। यः खलु सर्वान् पूर्वाचार्यानतिशय्य तिष्ठति। नायमृषिरेव योऽयं महर्षिपदं प्रापितो गुणग्राहिणीभिर्भारत-सन्ततिभिः। कृतं बहुलेखेन जिह्वा यासकेन। स्वदेशान् द्वीपान्तराणि च गत्वा पश्याचार्य्याः शतशोऽथ सहस्रशः कुशाग्रबुद्धय ईश्वरप्रणिहितमतयो दृष्टतत्त्वा अद्यतनसमयालङ्कारभूताः।

श्रीमान् ईश्वरकृष्ण, सब सांख्यादि शास्त्रों के भी भ्रमप्रदर्शक अद्वैतमत के प्रथमाचार्य श्रीशङ्कराचार्य, इनके मत का भी खण्डन करनेहारे वैष्णव धर्म के व्यवस्थापयिता श्रीरामानुज स्वामी, ज्योतिष् शास्त्र में नूतन २ गणित के आविष्कर्ता भास्कराचार्य्य, ये सब और अन्य भी शतशः आचार्य इसी कलियुग में हुए हैं। अतिनवीन नाम भी सुनो जो थोड़े ही समय में दिशाओं के अन्त को भी अतिक्रमण करना चाहता है और जिसकी प्रशंसा सम्पूर्ण जगत् कर रहा है। भुवनविदित, वेद-तत्त्वों के जिन्होंने पारतक देखा है, स्वभावतः जिनको आर्षज्ञान उत्पन्न हुआ है, जिन्होंने समस्त पाखण्डियों की लीला शान्त की, मूर्च्छित वेदपुरुष पुनरपि उज्जीवित किए, निखिल आधुनिक विद्वानों का गर्व निरस्त किया ऐसे परमपूज्य महर्षि दयानन्द को कौन हतभाग्य मन्दपुरुष नहीं जानता है जो सब पूर्वाचार्य्यों को अतिक्रमण कर स्थित हैं। ये केवल ऋषि ही नहीं हुए किन्तु गुणग्राही भारत सन्तानों ने महर्षिपदवी तक इनको पहुंचाया। जिह्वा के दुःखप्रद बहुत लेख से क्या प्रयोजन, देश और द्वीपान्तरों में जा आजकल भी शतशः सहस्रशः कुशाग्रबुद्धि ईश्वरभक्त आजकल के अलङ्कार स्वरूप आचार्यों को देखो। जिससे ज्ञात होगा कि आजकल भी बड़े २ आचार्य और विवेकी होते हैं।

ननु पुरापि यदि विवेकिनोऽभूवन् भवन्त्यधुनापि तर्हि किमुद्दिश्यायं एड-ताण्डवप्रस्तावोभवताम् । विरम विरमतावत् समनः सर्वाङ्गखेदकराल्लेखात् । सत्यमेतत् । स्वतो न विवेकोत्पाद अपेक्षते तु किमपि । यदि शैशवात्प्रभृति न कापि शिक्षा, न सतांसङ्गतिर्न पदार्थावलोकनम्, न चोपदेशश्रवणं, स्यात्तर्हि कथं स उत्पद्येत । अतः शिक्षार्थो ग्रन्थो लेख्य एव । सचोत्तरोत्तरजानां पुरुषाणां सहायकः । ननु यथादिसृष्टौ पदार्थावलोकनेन स्वयमुद्भूतं ज्ञानं तथेदानीमपि भविष्यति । अत्रोच्यते—आदावपि अनादिर्वेदो वै शिक्षको बभूव । तस्मात्सर्वे बोधवन्तः । येषां तु वेदाऽस्वीकारपक्षः । तत्रापि अस्त्येव लेखप्रयोजनम् सहायकत्वेन सापेक्षत्वात् । आहुस्तद्वादिनः—आसीत्पृथिवी प्रथममितरप्राणिभिः पूर्णा । जज्ञिरे पश्चान्मनुष्याः । जातेष्वपि तेषु वर्षसहस्रपूगानि जनिरपि नाभूद्विद्यायाः । केऽपि पर्वतगह्वरानध्यास्य रात्रिं नयन्ति स्म । केऽपि वृक्षा-

शङ्का—यदि पूर्व में भी विवेकी पुरुष हुए आज भी होते हैं तब किस उद्देश से अस्थान और असमय में नृत्य का प्रस्ताव कर रहे हैं । मनः सहित सर्वाङ्ग खेदकर लेख से विराम करना ही अच्छा है । उत्तर । आपका कथन सत्य है परन्तु स्वतः विवेक की उत्पत्ति नहीं होती किसी वस्तु की अपेक्षा करता है । यदि शैशवावस्थासे न शिक्षा, न सत्संगति, न पदार्थावलोकन और न उपदेश श्रवण हो तो तब वह विवेक कैसे उत्पन्न होगा । इस हेतु शिक्षार्थ ग्रन्थ लेख्य है । वह उत्तरोत्तर पुरुष का सहायक होता है । शङ्का—जैसे आदि सृष्टि में पदार्थों के देखने से स्वयं ज्ञान उत्पन्न हुआ वैसा ही आज भी होगा । उत्तर । आदि में भी, निश्चय, वेद शिक्षक हुआ उस से सब कोई बोधवान् हुए परन्तु जिनका वेद स्वीकारपक्ष नहीं है वहां पर भी लेख का प्रयोजन है ही, क्योंकि भावी सन्तान के सहायक होने के लिये उसकी अपेक्षा है । इस सिद्धान्त के माननेहारे कहते हैं कि यह पृथिवी पहले अन्यान्य प्राणियों से पूर्ण हुई, पश्चात् मनुष्य उत्पन्न हुए, मनुष्यों के उत्पन्न होनेपर भी अनेक सहस्र वर्षों तक विद्या का जन्म नहीं हुआ कोई तो पर्वत के गह्वरों में वास कर रात्रि काटते थे और कोई उच्च वृक्षों पर चढ़ दुष्ट जन्तुओं से अपनी रक्षा करते थे

नाख्य हिंस्रसत्त्वेभ्य आत्मानं त्रायन्ते स्म । प्रस्तरपिण्डो, दारुलगुडश्चेत्येवं-विधानि तेषामस्त्राणि । नोखलमूसले, न चुल्लिः, न भाण्डानि, न क्षेत्राणि, न हलानि, न धुर्याः, न वाहाः, न पात्राणि, न शकटानि, न गन्त्र्यः, न गावोनाश्वा इत्यादीन् परमोपयोगिनो ऽहरहः कांक्षितान् पदार्थानपि न विदुः । अपक्कैव भोजकाः । अकुटीरा अवाससश्च । किं बहुना पशुकल्पा एवासन् । गच्छत्सु बहुषु कालेषु शनैः शनैः सामान्या विद्या क्षेत्रादिसम्बन्धिनी विज्ञाता । सापि कस्मिंश्चिद्देशे नाभूदद्यापि । यद्यत् किञ्चित् तैर्विदितं । तत्तत्प्रथमं गीतिषु निबद्धं कथासु च कीर्तितम् । कतिपयवर्षलक्षगमनान्तरं ते लिपिं ज्ञातवंतः । ततो लिलिखुर्ग्रन्थान् । तदा प्रभृति पूर्ववृत्तान्तज्ञा अभूवन् केचन । ते च ग्रन्थाः उत्तरोत्तरभाविसन्तानाना-मुपकारेण उपकुर्वन्ति स्म । इत्थं पूर्वलिखितग्रन्थादि पठनपाठन-व्यवहारेण स्वानुभवसम्पत्त्या च सम्प्रति ईदृशा इयंतो विद्वांसो-जाता जायन्ते च । यदि लेख-परिपाटी सम्प्रत्यवसीदेत् । तर्हि भूयोपि सर्वे तामेव

पत्थर और काष्ठ की छड़ी उन के अस्त्र थे । न ऊखल, न मूसल, न चुल्हा, न भाण्ड, न खेत, न हल, न बहनेवाले, न ढोनेवाले, न गाय, न घोड़े, न काटने के हँसुए, न शकट, न छोटी गाड़ियां थीं । प्रतिदिन जिनके विना आज कार्य्य नहीं चल सकता ऐसे परमोपयोगी पदार्थों को भी वे लोग नहीं जानते थे । विना पकाया हुआ भोजन करनेहारे थे, न कुटी और न वस्त्र इनको थे । बहुत क्या कहें वे प्राचीन लोग पशुओं से किञ्चित् न्यून ही थे । इस प्रकार बहुत काल व्यतीत होनेपर धीरे २ साधारण खेत आदि की विद्या इन्होंने जानी वह भी किसी २ देश में आज भी नहीं । उन्होंने जो कुछ जाना प्रथम उन सबों को गीत में बनाया और कथाओं में कहने, सुनने, और सुनवाने लगे । कतिपय लक्ष वर्ष बीतनेपर उन्होंने लिपि जानी । तब ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया । तब से कोई २ पूर्ववृत्त के जाननेहारे होने लगे । वे ग्रन्थ उत्तरोत्तर सन्तान के उपकारी हुए । इस प्रकार पूर्व लिखित ग्रन्थों के पठन पाठन व्यवहार से और अपने अनुभव की सम्पत्ति से आजकल ऐसे और इतने विद्वान् उत्पन्न हुए और हो रहे हैं । यदि लेख परिपाटी आज समाप्त होजाय तो पुनरपि सब कोई उसी शैशवी दशा को प्राप्त होवें । इस हेतु उत्तरोत्तर साहाय्यार्थ ग्रन्थ तो लेख्य है यह उनका

शैशवीं दशां भजेयुः। अतोप्युत्तरोत्तर-साहाय्यार्थो ग्रन्थस्तु लेख्य एवेतितेषाममविरा-द्धान्तः। तत्राप्यहं नेदं नवीनं रचयामि ऋषि प्रणीतानामेव ग्रन्थानामाशयमाधुनिक-प्राकृतभाषया तथा सरलसंस्कृतभाषया च प्रकटयितुं प्रयते। यतो नाधुना सर्वे, संस्कृतं पठन्ति। पठन्तोपि नार्षभाषाध्ययनाय कालं यापयितुं शक्नुवन्ति पठनीयबाहुल्याद् आर्षग्रन्थानां भाषाकाठिन्याच्च। अन्यच्च यदि बोद्धारो न लिखेयुर्नोपादिशेयुस्तर्हि पुनरपि सैव प्राचीनतमा दशाऽऽपतेत्। अतोपिलेख्यम्। अत्र सांख्यसूत्रद्वयमुदाहृत्यावसाययामीमं प्रासङ्गिकं लेखम्।

उपदेश्योपदेष्टृत्वात्तत्सिद्धिः। इतरथाऽन्धपरम्परा। सां० ३। सू० ७९,-८०

स्वाध्याय-प्रशंसा ॥

अत्र प्रथमं तावदृषीणां पन्था अनुकरणीयः। तमिमंपन्थानमिमानि वाक्यानि विस्फुटं प्रकाशयन्ति। तद्यथा-

---

भी सिद्धान्त है। उस में भी मैं तो कोई नवीन ग्रन्थ नहीं बनाता ऋषि प्रणीत ग्रन्थों के आशय को आधुनिक भाषा के और सरल संस्कृत भाषा के द्वारा प्रकाशित करने के लिये प्रयत्न करता हूं। जिस हेतु आजकल सब कोई संस्कृत नहीं पढ़ते, पढ़नेहारे भी आर्षभाषाध्ययन के लिये समय विता नहीं सकते। क्योंकि पढ़ने के लिये बहुत हैं और आर्ष भाषा की कठिनता भी है अतः यदि बोद्धा न लिखें और न उपदेश देवें तो पुनरपि वही प्राचीनतमदशा आपड़ेगी इस हेतु भी लिखना चाहिये। इस विषय में सांख्यशास्त्र के दो सूत्र दे यह प्रासङ्गिक लेख समाप्त करता हूं।

उपदेश्य (शिष्य) और उपदेष्टा (आचार्य्य) दोनों के होने से जगत में कल्याण की आशा होती यदि ये दोनों न होवें तो जगत् में अन्धपरम्परा फैलजाय। विज्ञानभिक्षुक ने प्रसङ्ग से इनका तात्पर्य्य अन्य प्रकार से भी वर्णन किया है परन्तु यहां उसका प्रसङ्ग नहीं।

स्वाध्याय-प्रशंसा ॥

इस में प्रथम ऋषियों के मार्ग का अनुकरण करना उचित है। ये वक्ष्यमाण वाक्य उस मार्ग को विस्फुटतया प्रकाशित करते हैं। वे ये हैं—

"आचार्य्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेण+अभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्याय मधीयानो धार्मिकान् विदधद्+आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्य+अहिंसन् सर्वाणि भूतानि+अन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते"। छान्दोग्यो० ८। १५। १॥

इममार्षं पन्थानमनु कुर्वन्तोजनाः कथङ्कारं न विवेकिनो भविष्यन्ति। ऋषेर्भरद्वाजस्य ब्रह्मचर्य्यव्रतं निरीक्ष्यताम्-

तैत्तिरीया आमनन्ति—"भरद्वाजो ह त्रिभिरायुर्भिर्ब्रह्मचर्य्यमुवास । तं ह जीर्णिं स्थविरं शयानमिन्द्र उपव्रज्योवाच-भरद्वाज! यत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां

(आचार्य्यकुलात्) आचार्य के गृह पर जाकर (यथाविधानम्) विधि पूर्वक (वेदम्+अधीत्य) वेद पढ़ (गुरोः) आचार्य्य के (अतिशेषेण+कर्म्म) सब शुश्रूषा गोचारण आदि सेवा कर (अभिसमावृत्य) पश्चात् गुरु की आज्ञा से समावर्तन कर अर्थात् गुरुकुल से लौट (कुटुम्बे) विवाह कर अपने कुटुम्ब के साथ रहता हुआ (शुचौ+देशे) पवित्र स्थान में (वेदम्+अधीयानः) वेद को पढ़ता हुआ (धार्मिकान्) मनुष्यों को धार्म्मिक (विदधत्) बनाता हुआ (आत्मनि) अपने में (सर्वाणि+इन्द्रियाणि) सब इन्द्रियों को (संप्रतिष्ठाप्य) स्थापित कर अर्थात् वश में कर (अन्यत्र+तीर्थेभ्यः) विद्यालयों वा धर्म्मशालाओं से अन्यत्र भी (सर्वाणि+भूतानि) किसी प्राणी की (अहिंसन्) हिंसा न करता हुआ जो आदमी इस संसार में बरतता है (सः) वह (एवम्) पूर्वोक्त प्रकार से (यावदायुषम्) आयु पर्य्यन्त (वर्त्तयन्) बरतता हुआ पुरुष (ब्रह्मलोकम्) अन्त में ब्रह्मानन्द को (अभिसम्पद्यते) प्राप्त होता है (न+च+पुनः+आवर्तते) पुनः पुनः क्लेश को नहीं पाता। जो कोई इस आर्षपन्थ का अनुकरण करेंगे वे क्यों नहीं विवेकी होवेंगे। ऋषिभरद्वाज के ब्रह्मचर्य बल को देखो।

तैत्तिरीय लोग कहते हैं (भरद्वाजो ह) ऋषि भरद्वाज (त्रिभिः+आयुभिः) तीन बाल्य यौवन और वार्धक्य आयुवों से (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य (उवास) करते रहे (तम+ह+

किमेनेन कुर्या इति ब्रह्मचर्यमेवैनेन चरेयमिति होवाच"। तै० ब्रा० ३, १०, ११ ३, ४, भरद्वाजवद्विद्याभिलाषिभिः प्रथमं भाव्यम् । नाको मौद्गल्यः स्वाध्याय-प्रवचनयोरेव प्रशस्यतमत्वमाह ।तद्यथा-"स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः।" तैत्तिरीये।पुनः-"स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। तानि त्वयोपास्यानि।" तै० । पुनः "अथ यद् यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव......अथयत्सत्रायणमित्या-चक्षते ब्रह्मचर्यमेव...... अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव" । इत्येवं विधानि छान्दोग्यवचनानि ब्रह्मचर्यं पदे पदे स्तुवन्ति । पुनः सन्ति शतपथब्रा-ह्मणवचनानि स्वाध्यायं प्रति विशेषाऽऽदराणि तद्यथा—

"अथातः स्वाध्यायप्रशंसा—प्रिये स्वाध्यायप्रवचनेभवतो युक्तमना भवत्य-पराधीनोऽहरहरर्थान् साधयते सुखंस्वपिति परमचिकित्सक आत्मनो भवती-

---

जीर्णिम्+स्थविरम्) जब वह जीर्ण और स्थविर होगये तब इनके निकट (इन्द्रः) इन्द्रने (उपव्रज्य) आकर (उवाच) कहा (भरद्वाज) हे भारद्वाज ! (यत्ते) जो आप को चतुर्थ आयु दूं तो उस आयु से आप क्या करेंगे । इस पर भरद्वाज ने कहा कि इस से भी मैं ब्रह्मचर्य ही करूंगा । इस इतिहास से यह सिद्ध होता है कि पूर्वकाल के ऋषि बड़े ही विद्याभिलाषी थे । और जिन्होंने ऐसा परिश्रम किया वे ही ऋषि भी हुए । इस हेतु ऋषि भरद्वाज के समान विद्याभिलाषी होने चाहियें । नाक मौद्गल्य ऋषि वेद के पढने पढ़ाने को सब तपस्या से प्रशस्यतम मानते हैं पुनः कहा गया है कि स्वाध्याय = पढना । प्रवचन = उसके व्याख्यान उपदेश अध्यापन आदि इन दोनों से (न+प्रमादितव्यम्) कदापि भी प्रमाद न करे । पुनः (अथ यद्यज्ञ-इत्याचक्षते) जिस को यज्ञ कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है । जिस को सत्रायण नाम यज्ञ कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है । जो अनाशकायन नाम का यज्ञ कहलाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है । इस प्रकार ब्रह्मचर्य की स्तुति छान्दोग्यश्रुति पद पद में कर-ती है । विद्याध्ययनरूप व्रत का ही नाम ब्रह्मचर्य है । पुनः शतपथ ब्राह्मण के वचन स्वाध्याय की कहां तक स्तुति करती है सो देखो ऋषि कहते हैं ।

(अथातः स्वाध्याय प्रशंसा) आगे स्वाध्याय की प्रशंसा कहते (स्वाध्याय

न्द्रिय संयमश्चैकारामता च प्रज्ञावृद्धिर्यशो लोकपक्तिः । प्रज्ञा वर्धमाना चतुरो धर्मान् ब्राह्मणमभिनिष्पादयति ब्राह्मण्यं प्रतिरूपचर्यां यशो लोक-पंक्तिम् लोकः पच्यमानश्चतुर्भिर्धर्मैर्ब्राह्मणं भुनक्त्यर्चया च दानेन चाज्येयतया चावध्य-तया च ॥ १ ॥ ये ह वै के च श्रमाः। इमे द्यावापृथिवीऽअन्तरेण स्वाध्यायोहैव तेषां परमता काष्ठा य एवं विद्वान् स्वाध्यायमधीते तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥२॥

प्रवचने) पढ़ना पढ़ाना (प्रिये+भवतः) ये दोनों वस्तु परमप्रिय हैं क्योंकि (युक्तमनाः+भवति) इस कर्म से उसका मन तत्त्वयुक्त होता (अपराधीनः) किसी के अधीन नहीं रहता अर्थात् स्वतन्त्र हो जाता (अहः+अहः) प्रतिदिन (अर्थान्) धर्म अर्थ काम मोक्ष इन चारों पदार्थों को (साधयते) सिद्ध करता (सुखं+स्वपिति) सुख से जीवन बिताता (आत्मनः+परम चिकित्सकः+भवति) अपने आत्मा का परम वैद्य बनता (इन्द्रिय संयमः) इन्द्रियों का संयम होता (एकारामताच) और ब्रह्म में अनवच्छिन्न विश्रान्ति लाभ करता । यद्वा। एक होने पर भी बहुत होता (प्रज्ञावृद्धिः) प्रज्ञा की वृद्धि (यशः) यश (लोकपक्तिः) ऐहिक पारलौकिक सुख की परिपक्वता (वर्धमाना प्रज्ञा) बढ़ती हुई प्रज्ञा (चतुरः धर्मान्) चार धर्मों से (ब्राह्मणम्+अभिनिष्पादयति) ब्राह्मण को युक्त करता है । वे चार ये हैं (ब्राह्मण्यम्) ब्राह्मण्य (प्रतिरूपचर्या) गुणानुसार आचरण (यशः+लोकपक्तिः) यश और लोक परिपक्वता इन चारों पदार्थों को बढ़ती हुई प्रज्ञा देती है।और (लोकः पच्य-मानः) परिपक्व होता हुआ लोक भी (चतुर्भिः-धर्मैः) चार धर्मों से (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण को (भुनक्ति) पालन करता है । वे ये हैं (अर्चया+च) पूजा से (दानेन च) दान से (अज्येयताच) हानि को न होने देने से (अवध्यतयाच) और न वध्य होने देने से अर्थात् विद्वान् की सदा पूजा होती दान मिलता रहता किसी प्रकार की हानि न होती, और अपराधी होने पर भी वध्य नहीं होता ॥ १ ॥ (इमे+द्यावापृथिवी+अन्तरेण) इन द्यावापृथिवी के मध्य में (ये+ह+वै+के+च+श्रमाः) जो कोई श्रम=तपस्याएं हैं (तेषाम्) उन तपस्यायों में (स्वाध्यायः+वै) स्वध्याय ही (परमता+काष्ठा) परमकाष्ठा है अर्थात् स्वाध्याय ही तपस्या की चरम काष्ठा है (यः+एवम्) जो ऐसा जानता हुआ (स्वाध्यायम्+अधीते) स्वाध्याय का अध्ययन करता है (तस्मात्+स्वाध्यायः+अध्येतव्यः) इन हेतु स्वाध्याय (वेद)

यद्यद्ध वाऽअयं छन्दसः स्वाध्यामधीते तेन तेन हैवास्य यज्ञक्रतुनेष्टं भवति य एवं विद्वान्त्स्वाध्यायमधीते तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥ ३ ॥ यदि ह वा अप्यभ्यक्तः अलंकृतः सुहितः सुखे शयने शयानः स्वाध्यायमधीतेआ हैव स नखाग्रेभ्यस्तप्यते य एवं विद्वान् स्वाध्यायमधीते तस्मात्स्वाध्यायोऽध्ये-तव्यः ॥ ४ ॥ मधु ह वा ऋचः घृतं ह सामान्यमृतं यजूंषि ॥ ५ ॥ मधुना ह वाऽएष देवांस्तर्पयति । य एवं विद्वानृचोऽहरहः स्वाध्यायमधीते त एनं तृप्ता-स्तर्पयन्ति सर्वैः कामैःसर्वैर्भोगैः ॥ ६ ॥ घृतेन ह वाऽएष देवाँस्तर्पयति । य एवं

अध्ययन करना चाहिये ॥ २ ॥ (अयम्) यह ब्रह्मचारी (छन्दसः) वेदों में से (यद्+यद्+ह) जो जो (स्वाध्यायम्+अधीते) स्वाध्याय पढ़ता अर्थात् वेद के जितना २ छन्द वा भाग पढ़ता जाता है (तेन०) उस २ अध्ययन रूप यज्ञ से यज्ञ ही होता (यः) जो कोई इस प्रकार जानता हुआ स्वाध्याय करता है । इस हेतु वेद अवश्य पढ़ना चाहिये ॥ ३ ॥ (यदि+ह+वा+अभि) यदि वा वह (अभ्यक्तः) शरीर में तैलादि युक्त हो (अलङ्कृतः) विविध भूषणों से अलङ्-कृत हो । अथवा (सुहितः) समाहित हो (सुखे+शयने+शयानः) अथवा अच्छे शयन पर सोता हुआ अर्थात् किसी अवस्था को प्राप्त हो किसी समय में (स्वाध्या-यम्+अधीते) वेद को पढ़ता है (सः) वह अध्येता (आ नखाग्रेभ्यः+तप्यते) शिर से लेकर नख पर्य्यन्त तपस्या ही करता है (यः+एवम्) जो कोई इस प्रकार इत्यादि । इस चतुर्थ कण्डिका का भाव है कि येनकेन प्रकारेण वेद शास्त्र अवश्य पढ़ना चाहिये । इसके लिये यदि व्रत होसके तो अच्छा है यदि व्रत न हो भूषणादि परित्याग न कर सके गृह को भी न छोड़ सके पृथिवी पर न शयन करके अच्छे पर्य्यङ्क पर ही शयन करे तब भी कोई क्षति नहीं । परन्तु स्वाध्याय अवश्य करे । स्वाध्याय का किसी अवस्था में परित्याग न करे यही एक बड़ी भारी सब से श्रेष्ठ तप-स्या है ॥ ४ ॥ (मधु+ह+वा+ऋचः) ऋग्वेद मधु (घृतम्+ह+सामानि) सामवेद घृत (अमृतम्+यजूंषि) और यजुर्वेद अमृत है ॥ ५ ॥ (मधुना+ह+वा) ऋग्वेद रूपी मधु से (अयम्) यह पढ़नेहारा (देवान्+तर्पयन्ति) देवों को तृप्त करता है (यः) जो ऐसा

विद्वान्त्सामान्यहरहः स्वाध्यायमधीते त एनं तृप्ता इत्यादि ॥ ७ ॥ अमृतेन ह वा एष देवाँस्तर्पयति । य एवं विद्वान्यजूंष्यहरहः स्वाध्यायमधीते तएनंतृप्ता इ० ॥ ८ ॥ यन्ति वाऽआप, एत्यादित्य, एति चन्द्रमा यन्ति नक्षत्राणि यथा ह वा एता देवता नेयुर्नकुर्युरेव हैव तदहर्ब्राह्मणो भवति यदहः स्वाध्यायं नाधीते तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यस्तस्मादप्यृचं वा यजुर्वा साम वा गाथां वा कुंब्यां वाभिव्याहरेद् व्रतस्याव्यवच्छेदाय" ॥ १० ॥ शतपथ ब्रा० कां० ११ । अ० ५ । ब्रा० ॥ ७॥

मनुश्चातुराश्रम्ये स्वाध्यायमनुशास्ति "षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्य्यं" मित्यादिभिर्ब्रह्मचर्य्याश्रमे । सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः । यथातथाऽ-

---

जानता हुआ प्रति दिन वेद को पढ़ता है (ते) वे देव (तृप्ताः) तृप्त होकर (एनम्) इस को (सर्वैः०) सब काम और सब भोगों से तृप्त करते हैं ॥ ६ ॥ (घृतेन०) सामदेव रूपी घृत से वह देवों को तृप्त करता है इत्यादि० ॥ ७ ॥ (अमृतेन०) यजुर्वेद रूपी अमृत से देवों को तृप्त करता है इत्यादि ॥ ८ ॥ (यन्ति+वै+आपः) प्रतिक्षण जल चलते ही रहते (आदित्यः+एति+चन्द्रमाः+एति नक्षत्राणि+यन्ति) सूर्य्य चन्द्र और नक्षत्र भी अपना अभ्यास कदापि नहीं त्यागते (यथा+हवै+एताः+देवताः०+न+इयुः+न कुर्युः) यदि ये देवताएं इस प्रकार न आवें और न अपना कार्य करें तो पृथिवी की क्या गति होगी (एवम् हैव०) इसी प्रकार उस ब्राह्मण को भी जानो जो स्वाध्याय को नहीं करता है ब्राह्मण के स्वाध्याय न करने से भी वैसी ही हानि होती है (तस्मात्०) इस कारण ऋग्, यजु, साम अथवा ब्राह्मण ग्रन्थों का कोई भाग भी अवश्य पढ़े इस व्रत का लोप कभी न करे इस प्रकार ऋषिगण स्वाध्यया की प्रशंसा करते आते हैं ।

मनुजी महाराज चारों आश्रम में स्वाध्याय का अनुशासन करते हैं । (१) षट्त्रिंशदाब्दिकंचर्यं । इत्यादि से ब्रह्मचर्याश्रम में । (२) "सर्वान् परित्यजेदर्थान्" इत्यादि से गृहस्थाश्रम में । अथ श्लोकार्थ । (स्वाध्यायस्य विरोधिनः) स्वाध्याय करनेहारे (सर्वान्+अर्थान्) बारम्बार धनिक के गृह पर जाना, कृषि और लोकयात्रा आदि सब कार्यों को (परित्यजेत्) छोड़ देवे । यदि इन सबों से स्वाध्याय

ध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता।" मनु० ४ । १७ ॥ "यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति । तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते" । ४ । २० ॥

इत्यादिभिः श्लोकैर्न केवलं गार्हस्थ्ये स्वाध्याय एव विहितः स्वाध्यायस्य तु विरोधीनि यानि यानि कार्याणि भवेयुस्तानि तानि सर्वाणि त्यक्तव्यानीत्यपि, वानप्रस्थाश्रमे-"स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः। दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः।"६।४८इत्यादिभिः श्लोकैः । पारिव्रज्ये- "सन्न्यस्य सर्वकर्माणि कर्म्मदोषानपानुदन् । नियतो वेदमभ्यस्य-पुत्रैश्वर्य्ये सुखं वसेत्" ॥ ६ । ९५ ॥ एवंविधैः श्लोकैः । केचन सन्न्यासिनां स्वाध्यायादि-सर्व्व-कर्म्म-सन्न्यासमाहुस्तदसत् । "अनाश्रितं कर्म्मफलं कार्यं कर्म करोति यः । स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः" ॥ गीता । ६ । १ ॥

में विघ्न हो तो छोड़ देवे और (यथा तथा) येन केनोपाय से अपना निर्वाह करता हुआ (अध्यापयन्) पढ़ता पढ़ाता हुआ ही काल को बितावे (हि) क्योंकि (सा+अस्य+कृतकृत्यता) पठनपाठन ही जीवन की कृतकृत्यता है । यदि यह न हुई तो सब ही नष्ट समझो (यथा+यथ[illegible] पुरुष (शास्त्रम्) शास्त्र (समधिगच्छति) जानता जाता [illegible] विजानाति) पदार्थों को जानता जाता है (च) और (विज्ञानम्) विज्ञान (अस्य [illegible] (रोचते) रोचक होता जाता है ॥

इत्यादि श्लोकों से न केवल गृहस्थों के लिये स्वाध्याय का ही विधान करते किन्तु स्वाध्याय के विरोधी जो २ कार्य होवें स्वाध्याय की रक्षा के लिये उन सब का परित्याग करना विहित करते हैं। वानप्रस्थाश्रम में—(३) "स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्" इत्यादि श्लोकों से । और सन्न्यासाश्रम में—(४) "सन्न्यस सर्वाणि कर्माणि" इत्यादि श्लोकों से । इस प्रकार चारों आश्रमों में स्वाध्याय की विधि मनुजी कहते हैं । कोई सन्न्यासियों के लिये स्वाध्याय आदि सब कर्म्म का परित्याग कहते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि "अनाश्रितः कर्मफलम्" इत्यादि श्रीकृष्ण के वाक्यों से सिद्ध है कि स्वाध्याय आदि कर्म्म वे अवश्य करें । ये त्याज्य नहीं हैं ।

"यज्ञदानतपः कर्म्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्" । १८ । ५ ॥ "नियतस्य तु सन्न्यासः कर्म्मणो नोपपद्यते ॥ मोहात्तस्य परित्याग-स्तामसः परिकीर्त्तितः" । १८।७ ॥ इत्यादिभ्यः श्रीकृष्णवाक्येभ्यः । अप्रसङ्गादिदमिह न सम्यङ्-मीमांसे॥

स्वाध्यायस्य हानिकारं वस्तु ॥

अहो पुरोभागिता भारतहतकस्य । स्वाध्याये ह्यपि विवेकविरोधिनः श्राव्यन्ते भूयिष्ठाः कुसंस्काराः । ते च शिशूनां वर्णिनामन्तःकरणं प्रविश्य निघ्नन्ति । तद्यथा-अविवेकिन आचार्य्याः शिक्षन्ते-इयं व्याकरणस्य चतुर्दशसूत्री नृत्यतो महेश्वरस्य ढक्कातो निर्गता न केनाचिन् मनुष्येण प्रणीता । साक्षादिनमणिरेव रूपान्तरं विधाय ज्योतिःशास्त्रं मनुष्यानध्यापयद् अन्यथा कः खलु पृथिवी-गोचरो भूत्वा ग्रहादीनां मानगमनादि वेत्तुं समर्थः स्यादित्येवमाद्याः प्रभूताः कुसंस्काराः सर्वेषु शास्त्रेषु बालकेभ्यः शिक्ष्यन्ते । ते चाचार्य्यमुखाच्छ्रुत्वा तान् सर्वान् अवितथानेव मन्यन्ते । तैरपि स्वशिष्येभ्यः, इत्यन्धपरम्परा अद्यापि न निवृत्ता । तथा चाभाणकः-"अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे"

इन प्रामणों से बुद्धिमान् मनुष्य अनुमान कर सकता है कि स्वाध्याय के ऊपर कितना जोर दिया गया था [illegible] अपना अभ्यास [illegible] यहां रहा तब तक बड़े विवेकी हुए । जब [illegible] न कुर्युः [illegible] चलागया तब वहां ही विवेकी जन उत्पन्न होने [illegible] । इस अवस्था में जिन्होंने स्वाध्याय का कुछेक अंश को भी पाया वे अवश्य विवेकी हुए । इस हेतु स्वाध्याय प्रथम विवेकोत्पत्ति में उत्तम कारण है।

आश्चर्य की बात है कि यह हत भारतवर्ष दोष ही देखता है क्योंकि स्वाध्याय में भी विवेक विरोधी बहुत कुसंस्कार सुनाये जाते वे बच्चे ब्रह्मचारियों के अन्तःकरण को पैठ कर नष्ट करते हैं। वे अविवेकी आचार्य कहते हैं कि व्याकरण के ये चौदहों सूत्र नृत्य करते हुए महादेव की ढक्का से निकले हैं किसी मनुष्य ने नहीं बनाए । साक्षात् सूर्य ने ही अन्य रूप धारण करके ज्योतिः शास्त्र मनुष्यों को पढ़ाया, अन्यथा कौन पृथिवीस्थ हो ग्रहादिकों के मान और गमनादि जानने में समर्थ हो सकता इस प्रकार के बहुत से कुसंस्कार सब शास्त्रोंमें बालकों को सिखलाते हैं। वे बच्चे आचार्य के मुख से सुन कर उस सब को सत्य ही मानने लगते । वे अपने शिष्यों को सिखलाते । इस प्रकार आज भी वह अन्धपरम्परा निवृत्त न हुई । यहां एक आभाणक है कि अंधे [illegible] पकड़ कर चलता

स्यादेतत्। परस्परं भाषन्ते च देवानामेताः कृतयो न वयं मनुष्या ग्रन्थान् निर्म्मातुं पारयिष्यामः। यदि वा श्रीभगवत्याराधिता प्रसन्ना स्यात्तर्हि तद्वर-प्रसादेन कदाचिद्वयमपि तत्कार्य्यं सम्पादयेम आगच्छत भगवतीमेवाराधयेम किमध्ययनेन देवतानुग्रहविरहिणा। इत्थमनेके स्वाध्यायं विहाय देव्याराधनेनापि फलमलब्ध्वाऽन्ते चोन्मत्ता जायन्ते। अपरे तु अधीयन्तोऽपि अस्मत्सामर्थ्य-बहिर्भूतं ग्रन्थादि प्रणयनमिति मत्वा सर्वदोदासतेतमाम्। केचन सम्प्रति केवलं पुण्यायैव ग्रन्थान् प्रत्यहमावर्तयन्ति न ज्ञानाय नान्योपदेशाय च। किं बहुना अद्यतनी स्वाध्याय-शैल्यपि विवेकस्थाने मौढ्यमेव जनयति यदि प्रचलिता संस्कृतस्वाध्यायशैली एवमेव स्थास्यति तर्हि न विवेकोदयस्य प्रत्याशा।

आप्तनिर्णय-प्रमाणता ॥

ननु इमे कुसंस्कारा, इमे सुसंस्कारा, इमे ग्राह्या, इमे हेया इत्यत्र केनो-

---

हुआ अन्धा जैसे पद २ पर गिरता पड़ता है ऐसी ही दशा इन शिक्षकों की है। अच्छा जो हो। बच्चे परस्पर कहते हैं कि [illegible] शास्त्र देवों की रचना है। हम मनुष्य हो के वैसे ग्रन्थों को बनाने में [illegible]की प्र[illegible]ेंगे अथवा यदि वह देवी आराधित होने पर प्रसन्न हों तब उनके वर [illegible]सादसे कदाचित् हम भी वह कार्य कर सकें। इस हेतु आओ हम सब भग[illegible] की आराधना करें। देवतानुग्रहरहित अध्ययन से क्या प्रयोजन ? इस प्रकार अनेक बालक स्वाध्याय को छोड़ देवी की आराधना करने लगते हैं। वहां पर भी फल न पाकर अन्त में उन्मत्त हो जाते हैं। अन्य पुरुष पढ़ते हुए भी हमारे सामर्थ्य से ग्रन्थादि प्रणयन बाहर है यह मानकर सर्वदा उदास ही रहते हैं। कोई आज कल केवल पुण्य के लिये ग्रन्थों की प्रतिदिन आवृत्ति किया करते हैं, ज्ञान और उपदेश के लिये नहीं। बहुत क्या कहें आजकल की स्वाध्यायशैली भी विवेक स्थान में मूढ़ता ही उत्पन्न करती है। यदि प्रचलित संस्कृत स्वाध्याय शैली अब भी ऐसी ही रहेगी तो विवेकोदय की प्रत्याशा नहीं है।

प्रश्न—ये कुसंस्कार, ये सुसंस्कार, ये ग्राह्य और ये त्याज्य हैं इस विषय के

पायेन केन प्रमाणेन वा निर्णयान्तं वयं प्रतिपत्स्यामहे ? । इत्यत्रापि विवेक एव हेतुः । स्वातन्त्र्येण परस्परसंवादश्चापि निरपेक्षाणां लोकहितैषिणां परीक्षकाणां च सत्यमसत्यञ्च निर्णेष्यति । यद्यप्यत्रापि नैकान्ततो निर्णयः संभवति । मनुष्यबुद्धिपरिच्छिन्नत्वात् । नहि सर्वः सर्वं जानाति तथाच बहुला ईश्वरीयविद्या इदानीमपि वेदेषु प्रकृतिषु च गुप्ता अविदिततया स्थिता दृष्टाः प्रत्यहं नवनवाविष्कारोभवल्ँलोकेषु दृश्यते । तथापि निजसामयिक-मत्यवधिर्निर्णयो भवितुमर्हति । अनागताः पुनः स्वधिया यथाज्ञानोदयं निर्णेष्यन्ति ।

ननु अनया विचलितया व्यवस्थया सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः स्यात् । कथमिव-प्रथमं तावन्न सर्वः सर्वस्मिञ्छ्रद्दधाति य एव केषांचित्पूज्यास्त एवेतरेषां व्यतिक्रमणीयाः । न प्रत्यक्षेण नानुमानेन वा धर्माभ्युपगमः । रूपाद्यभावान्नायमर्थः प्रत्यक्षस्यगोचरो लिङ्गाद्यभावाच्च नानुमानादीनाम् । अतोऽत्र शब्दएवाश्रयितुं

निर्णय के अन्त तक हम किस उपाय वा प्रमाण से पहुंचेंगे ? (उत्तर) यहां पर भी विवेक ही हेतु है और [illegible] अपना अभिप्राय परीक्षकों का सम्वाद सत्य और असत्य [illegible] कुर्युः यद्यपि यहां पर भी सर्वथा निर्ण[illegible] संभव [illegible] नहीं । क्योंकि मनुष्य की बुद्धि परिछिन्न है सब कोई सब नहीं जानता और अनेक ईश्वरीय विद्याएं अब भी वेदों और प्रकृ[illegible]यों में गुप्त और अविदितरूप से स्थित देखी जाती हैं । क्योंकि प्रतिदिन नूतन नूतन आविष्कार लोकों में हो रहे हैं । तथापि अपने समय की बुद्धि की सीमा तक निर्णय हो सकता है और भावी पुनः अपनी बुद्धि के अनुसार निर्णय कर लेवेंगे । प्रश्न—इस विचलित व्यवस्था से सब व्यवहार का उच्छेद हो जायगा । कैसे—पहिले तो सब सब में श्रद्धा ही नहीं रखता और जो ही किन्हीं के पूज्य हैं वे ही अन्यों के अपूज्य हैं । प्रत्यक्ष वा अनुमान से धर्म की सिद्धि नहीं क्योंकि रूपादिक के अभाव से यह प्रत्यक्ष गोचर नहीं । चिन्हादिक के अभाव से अनुमानादिक का भी गोचर नहीं इस हेतु यहां शब्द का ही आश्रय लेना उचित है इससे व्यवस्था भी स्थिर हो सुखकारिणी होगी । उत्तर—ऐसा हो परन्तु

शक्यते तेन व्यवस्थापि स्थिरत्वं प्राप्ता सुखाकरिष्यति । स्यादेतत् । कथन्तु शब्दैर्विवादोपशमः । शास्त्रकृतां प्रसिद्धमाहात्म्यानां कपिलकणभुक्प्रभृतीनामपि हि परस्परविप्रतिपत्तयो दृश्यन्ते ।

अतः "कपिलो यदि सर्वज्ञः कणादो नेति का प्रमा" इति न्यायेन विवादविषयीभूतत्वाच्छब्दानां तत्प्रामाण्यमस्वीकुर्वन्तो वयं तावद् ब्रूमः कञ्चित् कालं परीक्षकाणामाप्तानां बुद्धावेव तिष्ठेम । नन्वस्मिन्पक्षेऽपि बहुविवादोत्थानावसरः कुतः कस्याऽऽप्तस्य सिद्धान्त मनुसरेम कपिलस्य कणादस्य वा मनोर्याज्ञवल्क्यस्य वा बुद्धस्य शङ्कराचार्य्यस्य वा आधुनिकानामाप्तानां वा । अन्यच्च—यः कश्चिद्विषयो बुद्धिमद्भिः स्थाप्यते स एव बुद्धिमत्तरैर्व्युत्थाप्यते इतरैः कैश्चिद् बुद्धिमत्तमैश्च बालविचारोयमिति परिहस्यते युक्तिभिरुपपत्तिभिश्च शतेन खण्ड्यते अतः शब्दगम्येऽर्थे मा शङ्कां कृथा इत्यस्माकं राद्धान्तः सौष्ठवः । सत्यमेतत् ।

शब्दों से विवाद की शान्ति कैसे हो सकती है क्योंकि शास्त्र के रचनेहारे जिनका माहात्म्य जगत् में प्रसिद्ध है ऐसे कपिल कणाद आदिकों का भी परस्पर विवाद है इस हेतु "कपिलो यदि सर्वज्ञः कणादो नेति का प्रमा" (१) इस न्याय के अनुसार शब्द प्रमाण को विवाद-विषयीभूत होने से उसकी प्रमाणता को न स्वीकार करते हुए हम कहते हैं कि कुछ काल आप्त परीक्षकों की बुद्धि के आश्रय रहें । प्रश्न—इस पक्ष में भी बहुत विवादों के उत्थान का अवसर है क्योंकि जिस किसी विषय को बुद्धिमान् स्थापित करते हैं उसको उनसे अधिक बुद्धिमान् मिथ्या बतला देते हैं और उनसे भी अधिक बुद्धिमान् "यह बालक का विचार है" इस प्रकार हँसते हैं सैकड़ों युक्तियों और उपपत्तियों से खण्डन करते हैं । इसहेतु कहते हैं कि जो केवल शब्दगम्य विषय है उसमें शङ्का नहीं करनी चाहिये । यह हम लोगों का अच्छा सिद्धान्त है । उत्तर—हां सत्य है तथापि विवाद के प्रशमनार्थ ही इस

(१) यदि (कपिलः) सांख्यकर्त्ता कपिल महर्षि (सर्वज्ञः) सर्वज्ञ थे ऐसा स्वीकार करें तो (कणादः) वैशेषिक शास्त्रकर्ता कणादऋषि (न+इति) सर्वज्ञ नहीं थे इसमें (का+प्रमा) क्या प्रमाण है अर्थात् एक को अच्छा एक को न्यून मानने में कोई युक्ति नहीं इस अवस्था में कैसे निर्णय होता है ॥

तथापि विवादप्रशमनार्थमेवैष पन्था अङ्गीक्रियते नतु विवादविवृद्धये । शब्दानां प्रामाण्येऽभ्युपगम्यमाने सत्येव "वृश्चिकभिया पलायमान आशीविषमुखे निपतितः" इति न्यायं चरितार्थं करिष्यामः । तथाहि—सर्वे साम्प्रदायिकाः सूर्यान्धकारवत् परस्पर-विरुद्धमपि स्वस्वमतमागमैः प्रमाणयन्ति । यत्र मद्यपानं स्मृतिकारा महापातकेषु गणयन्ति तत्र तान्त्रिकास्तदेव पुण्यमामनन्ति इत्थं वैष्णवतान्त्रिकादीनि मतानि परःसहस्राणि परस्परविरुद्धानि दृष्ट्वापि कः परीक्षको बृहस्पतिबुद्धिरपि आगमैर्निर्णेतुं शक्नुयात् । अतः सर्वानितरशब्दान् विहाय वेदोपदेशमनुसरतां न विवादावसर इति यौष्माकीनं वचोवयमपि स्वीकुर्मस्तथापि परस्परविरुद्धव्याख्याभाष्यादिभिर्वेदार्थानामावृतत्वेन निर्णयासंभवान्नतदङ्गीकुर्मः तद्यथा जीवच्छरीरदाहमस्वीकुर्वतां शिरांसि श्रीरामानुजीया " अतप्ततनू- "रितिमन्त्रं प्रमाणयन्तश्चूर्णीकरिष्यन्ति । मद्यपाः खलु " स्वाद्वीं त्वा स्वादुना तीव्राम् । यजुः० १९ । १ ॥ "आसन्दी रूपं राजासन्द्यै वेद्यै कुम्भी सुराधानी

मार्ग को स्वीकार करते हैं न कि विवाद की विवृद्धि के लिये । शब्दों की प्रमाणता के अङ्गीकार करने पर ही "वृश्चिकभिया पलायमान आशीविषमुखे निपतितः" इस न्याय को हम-लोग चरितार्थ करेंगे, क्योंकि सबही साम्प्रदायिक सूर्य और अन्धकारवत् परस्पर विरुद्ध रहते भी स्व स्व मत को आगमों (शब्दप्रमाणों) से प्रमाणित करते हैं । देखो-जह स्मृतिकार मद्यपान को महापातकों में गिनते हैं वहां तान्त्रिक उसको पुण्य मान हैं । वैष्णव तान्त्रिक आदि परस्पर विरुद्ध सहस्रों मतों को देखकर भी कौन परीक्षक बृहस्पति बुद्धिवाले भी शब्द प्रमाणों से निर्णय करने में समर्थ होवेंगे । यदि ऐसा कहो कि सकल अन्य शब्दों को छोड़ वेदोपदेश के अनुसरण करनेहारे को कोई भी विवादावसर नहीं होगा तो यह कहना सर्वथा ग्राह्य है हम भी स्वीकार करते हैं तथापि इससे निर्णय होना संभव नहीं क्योंकि वेदों के अर्थ परस्पर विरुद्ध व्याख्यानादिकों से आवृत होरहे हैं । देखो, रामानुजीय सम्प्रदायी "अतप्ततनूः" इस मन्त्र को प्रमाण में देते हुए जीवित शरीर के दाह को न स्वीकार करनेहा पुरुषों के शिरों को चूर्ण चूर्ण कर देवेंगे । इसी प्रकार मद्यपायी जन "स्वाद्वींत्वा"

यजुः १९ । १६ ॥" इत्यादीन् मन्त्रानुपन्यस्यन्तः सुरापान–निषेधकानां कां दशां गमयिष्यन्तीति न जाने। किं बहुना-स्वार्थसाधनतत्परैः सम्प्रति वेदार्थोऽपि कदर्थीकृतः । अत इहाप्याप्तानां परीक्षकाणां बुद्धि-विचारादि–व्यतिरेकेण न किमपि शरणम् । अतो ब्रूम आप्ता एवाश्रयितव्याः । ये च स्वसमये बुद्धिमत्त-मत्वेन सर्वैर्गृह्यन्ते ते एव निर्णेतृत्वेन नियोक्तव्याः। ते च सम्यक् परीक्ष्यावश्यं वेदानेव धर्म्म-निर्णायकान् वक्ष्यन्ति। यत ईश्वरोक्तत्वाद् वेदेषु न कश्चिद् भ्रमः। न च तर्कप्रतिष्ठा–स्वीकारेण वेद उच्छेदं प्राप्स्यतीति भयं कार्य्यम् । न हीश्वरा-त्कोप्यधिकस्तार्किकः । परःसहस्रा अपि तार्किका एकमप्यर्थं वैदिकं प्रत्या-ख्यातुं न समर्थाः ।

ननु "नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ" "कोऽद्धा वेद क इह प्रवोचत्" "इयं विसृष्टिर्यत आबभूव" अचिंत्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्। प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्"। इत्येवमादिभ्यः

" आसन्दीरूपं " इत्यादि मन्त्रों को पेश करते हुए सुरापान के निषेधकों को किस दशा को पहुंचावेंगे मैं नहीं कह सकता । बहुत क्या कहें । आजकल वेद का अर्थ भी कदर्थ कर रक्खा है, तब कैसे निर्णय हो । इस हेतु यहां पर आप्त परीक्षकों के बुद्धि विचारादि के अतिरिक्त शरण नहीं है । इस हेतु हम कहते हैं कि आप्त-लोग ही आश्रयितव्य हैं । जो आप्त अपने समय में परमबुद्धिमान् करके सब लोगों से स्वीकृत हैं उनको ही निर्णय के लिये नियुक्त करो । अच्छे प्रकार परीक्षा करके वे अवश्य ही वेदों को ही धर्म्मनिर्णायक मानेंगे क्योंकि ईश्वरोक्त होने से वेदों में कोई भ्रम नहीं होसकता । यदि ऐसा कहो कि तर्क की प्रतिष्ठा स्वीकार करने पर वेद नाश को प्राप्त होगा । इस हेतु तर्क को हम स्वीकार नहीं करते । मैं कहता हूं ऐसा भय मत करो, क्योंकि ईश्वर से बढ़कर कोई तार्किक नहीं । सहस्र तार्किक मिलकर भी वेद के एक अर्थ का भी प्रत्याख्यान नहीं कर सकते ॥

शङ्का (नैषा०) यह बुद्धि तर्क से दूर नहीं होसकती है (को०) कौन जानता है कौन व्याख्यान कर सकता है कि यह विचित्र सृष्टि जहां से हो गई । (अचिन्त्याः०) जो अचिन्त्य पदार्थ हैं वहां तर्कों को न लगाना चाहिये । इत्यादि

श्रुतिस्मृतिभ्यः केवलेनाऽऽगमेन बोध्ये वस्तुनि तर्कोनाऽऽदर्त्तव्य इति सर्वेषामाप्तानामपि स्वीकारात्कथं धर्म्म-विषये तर्काग्रहः । अभिहित-वचनानि शुष्कतर्कान् निवारयन्ति । अन्यथाऽशक्यो हि निर्णयः सम्प्रति बहुशोऽवोचाम अत आप्ताः सद्भिस्तर्कैर्यत्किमपि निर्णयन्ति तदितरैः स्वीकर्त्तव्यमिति न व्यवस्थायां विचलनं किमपि । इममर्थमिदानीं प्रचलित भाषायां निबध्नामि तत्रैव द्रष्टव्यम् ।

श्रुति स्मृतियों से केवल आगम बोध्य वस्तु में तर्क का आदर नहीं करना चाहिये । यह सब आप्तों को स्वीकार होने से धर्म विषय में कैसे आप तर्क का आग्रह करते हैं । उत्तर—सुनो, कथित वचन शुष्क तर्क का निवारण करता है अन्यथा आजकल निर्णय नहीं होसका यह बारम्बार हमने कहा है । इस हेतु आप्त पुरुष सत् तर्कों से जो कुछ निर्णय करें उसको अन्यलोग स्वीकार करें ऐसा करने पर व्यवस्था में कोई विचलन नहीं होगा ।

बहुत से बुद्धिमान् पुरुष कहते हैं कि धर्म और शास्त्रों में भेद है । धर्म में न कोई तर्क वितर्क और न आधुनिक आप्तों की प्रमाणता, किन्तु शास्त्रों में ये दोनों बातें स्वीकृत हैं अतएव अपने षड्दर्शनों में तर्क और युक्तियों का महासमुद्र तरङ्गायमान हो रहा है और जिनका सिद्धान्त इन दोनों से सुपुष्ट है वे ही परम मान्यगण्य हैं । शास्त्रों में ही "उत्तरोत्तरमुनीनां प्रामाण्यम्" की भी घोषणा है । धर्म की ऐसी व्यवस्था नहीं । उ० इस पर इतना मुझ को लिखना पड़ता है कि यद्यपि आर्यावर्त की यह व्यवस्था नहीं । यहां शास्त्रों के ऊपर ही धर्म स्थिर है । शास्त्र इसके अंग माने गये हैं । मैं पूछता हूं कि जो बात तर्कों से, वितर्कों से, विविध युक्तियों और उपपत्तियों से अथवा शास्त्रों से मिथ्या समझी जाय क्या उसका मानना कदापि धर्म समझा जायगा ? नहीं । सत्यता ही का नाम धर्म है । वस्तुगत धर्म ही का नाम सत्यता है यदि कहो कि लाखों तर्कादिकों से स्वर्गादिकों की कदापि भी सिद्धि न होगी तब इसके विधायक सकल धर्मग्रन्थ मिथ्या ठहरेंगे । इसका क्या उत्तर है । उत्तर—ये मिथ्या ही हैं । कोई बुद्धिमान् इसको नहीं मानता । रोचक और भयानक बातें प्रवृत्ति के लिये कही गई हैं । यदि धर्म में तर्क आदिकों को आदर न होता तो सृष्टि की आदि में से आजतक एक ही संप्रदाय रहता आज भी सहस्रों

आत्मनिर्भरताया अभावः ॥

सर्वेषु कार्येषु कृतविद्याना मधीतप्रकृतिविलासानां पक्षरहितानां मनीषिणा मात्मनिर्भरतैव सर्वनिर्णेत्री । बहुशतवर्षेभ्यो भारतवर्षीया आर्य्या नात्मानं स्वकीयमध्यासते । अतस्तेषां बुद्धिः सर्वथैव मन्दायिता । अन्तराऽन्तरा कियन्तो जना आत्माऽऽदेशानुकरणे प्रयतमाना अपि पश्चात्तु स्ववंश्यैर्वा स्व-

---

सम्प्रदाय चल रहे हैं । बहुत से पुरुष यह शङ्का करेंगे कि तब पुरातन ऋषियों की बड़ी अप्रतिष्ठा और उपेक्षा होती जायगी । यह भी कथन ठीक नहीं क्योंकि सत्यता सर्वदा एक रस रहती है । चिरन्तन ऋषियों ने जिस सत्यता को देखा आज भी आप्त उसको देखते और देखेंगे । सर्वदा से हाथी को सूंढ़वाला कहते आए । किञ्चिन्मात्र भी भेद नहीं हुआ । धर्म्मवस्तु भी इसी प्रकार प्रत्यक्ष है पुनः ऋषिलोग ईश्वरीय पुस्तकों की सहायता से सत्यता को स्थिर करते आए तब इस में व्यवस्थाभेद कैसे हो सकता । यदि कहो कि प्रत्यक्ष भेद का अपलाप कैसे करें कौन महापुरुष शाक्त और वैष्णव की, आधुनिक वेदान्त और न्याय की एकता सिद्ध करसकता है । अज्ञानकृत ये सारे भेद हैं जो आप्त ईश्वरीय ज्ञान को अपना अस्त्र बनावेंगे उन में कोई भेद उतना नहीं होगा । ईश्वरीय ज्ञान वेद और यह सृष्टि है । इन दोनों में कोई भेद नहीं । बुद्धिमान् जन इस को विचारें वेदों और सृष्टि के पदार्थों के जानने के लिये परिश्रम करें तब देखेंगे कि ये दोनों एक ही वस्तु हैं । सृष्टि के तत्त्वविदों को ही आप्त कहते हैं । सृष्टि और वेद दोनों ही ईश्वरकृत हैं तब आप्त पुरुष कैसे इन दोनों में भेद लगा सकते । अतः आप्तों की प्रमाणता स्वीकार करने में कोई क्षति नहीं । अलमतिविस्तरेण विवेकिपुरुषेषु ।

आत्म-निर्भरता का अभाव ॥

कृतविद्य, प्रकृतिविलास के अध्ययनशील और पक्षरहित मनीषियों की आत्म-निर्भरता ही सब कार्य्यों में निर्णय करनेहारी होसकती है । दो तीन सहस्र वर्षों से भारतवर्षीय आर्य्य अपने आत्मा के ऊपर निर्भर नहीं हैं । अतः इनकी बुद्धि सर्वथा मन्द होगई । बीच २ में कितने ही मनुष्य आत्मा के आदेश के अनुसार

ग्रामीणैर्वा स्वजानपदैर्वा दैशिकैर्वा बाध्यमाना नाऽऽविचारान्तं स्वातन्त्र्यं लेभिरे। ततस्ते किञ्चिदिव विपर्यस्य परिणमय्य वा प्रचलितसिद्धान्तमेव स्थापयामासुः स्वसम्प्रदायम्। अत्र रामानुज-रामानन्द-निम्बार्कादयः प्रमाणम्। केचन समन्ताद्विप्रकीर्णान् कुसंस्कारान् समुन्मूलयितुं प्रवृत्ताः। तेषां मतन्तु प्रचलितानि मतानि अपेक्ष्य साधीयोऽप्यत्रत्यास्त्रैवर्णिका नोररीचक्रुः। अत्र कबीरनानकादय उदाहरणम्। गतेषु कालेषु एतेषामपि मतकुल्याः पौराणिक-व्यामोहाब्धि निपतिताः। अतोऽत्रत्येतिहासपर्यालोचनेन स्थिरीक्रियते यत् प्रविरला एवात्मनिर्भरत्वस्य महिमानं विदांचक्रुः। अतएव निकृष्टमपि नीचमपि वेदविरुद्धमपि स्वबोधेनापि विपरीतमपि गतानुगमनमेव रुरुचेऽत्रत्येभ्यो जनेभ्यः। जातोऽस्य महाभयङ्करः परिणामः। अनेनैव कारणेन ईदृशी कर्त्तव्याकर्त्तव्यविचारविमूढा वातुला मतिरुत्पन्ना यदाऽऽहता निपतिता इदानीमपि नोत्थातुं शक्नुवन्त्यार्या वात्योत्खातिता महा-

चलने में यत्नवान् हुए। परन्तु पश्चात् अपने वंशजों से वा अपने ग्राम के रहनेहारों से वा अपने जानपदों से वा देशवासियों से बाध्यमान और निवार्यमाण हो अपने विचार के अन्ततक स्वतन्त्रता को उन्होंने न पाया, तब प्रचलित सिद्धान्त को ही किञ्चित् उलट पलट कर अपने सम्प्रदाय की स्थापना की। इसमें रामानुज, रामानन्द, निम्बार्क आदि प्रमाण हैं। कोई सर्वत्र विस्तीर्ण कुसंस्कारों को जड़ से उखाड़ने में प्रयत्न करने लगे। उनका मत प्रचलितमतों की अपेक्षा साधु भी था तथापि यहां के त्रैवर्णिकों ने स्वीकार नहीं किया। इसमें कबीर, नानक आदि उदाहरण हैं। बहुत काल व्यतीत होनेपर उनकी भी मतरूप कृत्रिम नदियां पौराणि-कव्यामोहरूप समुद्र में डूब गई। इस हेतु यहां के इतिहास की पर्य्यालोचना से स्थिर किया जाता है कि बहुत कम पुरुष आत्म-निर्भरता के महिमा को जानते थे। यहां के लोगों ने निकृष्ट भी नीच भी वेदविरुद्ध भी अपने बोध से विपरीत भी "गतानुगमन" को ही पसन्द किया। इस का बड़ा भयङ्कर परिणाम हुआ। इसी कारण से यहां ऐसी कर्तव्याकर्तव्यविमूढ़ वातुला (पगली वायु से आहत) मति उत्पन्न हुई और ववण्डर से उखाड़े और गिराये हुए महावृक्ष के समान जिस

इवाइव । अत्र पञ्चषाणीमान्युदाहरणानि येषां श्रवणमपि हृदयविदारकं सताम् ।

प्रथमं निरपराधानां जीवन्तीनां विधवानां काष्ठादिवदग्नौ बलात् प्रक्षेपः । उच्चैः क्रन्दतामात्मशिशूनां कार्य्यसिद्ध्याशया देवतायै समर्पणेन, गङ्गाद्यानां नदीनामम्भसि प्रवाहेण तथाचैवंविधेभ्योग्रामादिदेवेभ्यश्च प्रदानेन बालहत्याकरणम् । विवाहभीत्या पुत्रीहत्या । एकस्मै वराय कन्याशतप्रदानम् । पाषाणशिवादिमूर्तिभिः सह कन्योद्वाहनम् । पर्वतान्निपत्यात्महननम् । काशीप्रभृतितीर्थस्थानेष्वात्महत्या किमत्र बहुवक्तव्यं नितान्तनिकृष्टमपि लिङ्गभगादिपूजनं सर्वत्र प्रचारितं महाधूर्तैः । इत्येवंविधाः परःसहस्रा अननुष्ठेया वेदेषु काप्यदृष्टाः क्रिया अपि कृतवन्तः । ईदृशनिन्द्यतमक्रियानुष्ठानाय न केवलं स्वाभिमतमेव प्रकाशयामासुः किन्त्वत्र वसिष्ठवाक्यं नारदवचनञ्च प्रमाणम्, अत्र साक्षात्पराशरो विधिं करोति, अत्र स्वयमेव

से आहत और नीचे गिरकर अबभी आर्यों को उठने की शक्ति नहीं है । इस विषय में पांच छः ये उदाहरण हैं । जिन का श्रवण भी सज्जनों के हृदय का विदारक है ॥

देखो, निरपराध जीतीहुई विधवाओं को काष्ठवद् अग्नि में फेंकना । कार्यसिद्धि की आशा से उच्चस्वरसे चिल्लाते हुए अपने बच्चों को भी देवताओं के लिये समर्पण करने से, अथवा गङ्गा आदि नदियों के जल में प्रवाहित करने से अथवा ऐसे ग्रामादिदेवों को भी देने से बालहत्या करनी । विवाह के भय से पुत्रियों की हत्या करनी । एक ही वर को सौ सौ कन्याएं देनी । पाषाण शिवादिक के साथ कन्या का विवाह कर देना । पर्वत पर से गिर कर आत्महनन करना । काशी-प्रभृति तीर्थ स्थानों में आत्महत्या । बहुत यहां क्या कहना है अत्यन्त निकृष्ट लिङ्गभगादि के पूजन को भी महाधूर्तों ने चलाया । इत्यादि सहस्रों अकर्तव्य और जिन की वेदों में कहीं भी चर्चा नहीं ऐसी भयङ्कर क्रियाएं भी यहां के लोग करते रहे और ऐसी क्रियाओं के अनुष्ठान के लिये न केवल अपनी सम्मति ही प्रकाशित करते थे किन्तु यहां इस विषय में वसिष्ठ और नारद ऋषि के वाक्य प्रमाण हैं । यहां साक्षात् पराशर ही विधि करते हैं । यहां स्वयमेव श्रीकृष्ण और राम उपदेश देते हैं । इस प्रकार के

श्रीकृष्णः श्रीरामश्चोपदिशति, इत्येवंविधानां प्रामाणिकानां नाम्ना बहून् ग्रन्थान् विरचय्य जगद् वञ्चयामासुः। इमे कितवा मूढा मन्दमतयो निर्दयाः प्रस्तरहृदयाः स्वार्थसाधनपारवश्येन नाजीगणन् महापातकानि, नान्वकार्षुर्ऋषिचरितानि, नाश्रौषुर्वेदवचांसि, अमूमुहन्नाश्रितान् धर्मभीरून् मुग्धान् भारतवासीयान् । इमे अत्याचारा न कैश्चिदपि दोषज्ञैर्निवारिताः । धर्माभिधानेन यानि यानि पातकानि कितवैः पाटच्चरैश्च संचारितानि तानि तानि समधिकदृढानि भूत्वा विवेकपुरुषम् अगाधे समुद्राम्भसि निमज्जयामासुः । आत्मनिर्भरताविरहादेव तत् सर्वं समुत्पन्नमनिष्टजातम् ॥

इमे कुलधर्मा ग्रामधर्मा देशधर्माश्च चिरात्नाय प्रवृत्ताः सर्वैः पूर्वजै राहताः कथमस्माभिर्हातव्याः कथमद्यतनस्य तव कथां युक्तिं वा स्वीकृत्यानेकशताब्द्याऽऽगतधर्मपरिहारेण लोकेषु हास्यतां प्राप्य निन्दां शिरसि धारयेम । यदि किं पूर्वजश्चोर आसीदित्यनेन सर्वैरस्माभिश्चौरैर्भाव्यमिति पृच्छेत्तर्हि नायं श्राव्यः कर्णौ पिधाय

प्रामाणिक आचार्य्यों के नाम से बहुत ग्रन्थों को रचकर इन धूर्तों ने जगत् को वञ्चित किया । मूढ़, मन्दमति, निर्दय और प्रस्तर-हृदय उन धूर्तों ने अपने स्वार्थ-साधन के परवश होकर महापातकों को नहीं गिना । ऋषि चरित्रों का अनुकरण नहीं किया । वेद-वचन न सुने । किन्तु आश्रित, धर्म, भीरु, मुग्ध भारतवासियों को मोहित किया । किन्हीं विद्वानों ने इन अत्याचारों का निवारण नहीं किया । धर्म के नाम से धूर्तों और पाटच्चरों ने जिन २ पातकों का संचार किया उन्होंने अधिक दृढ़ हो विवेक-रूप पुरुष को अगाध समुद्र के जल में डुबो दिया । यह सब अनिष्ट आत्म-निर्भरता के न रहने के कारण से ही उत्पन्न हुआ है ।

ये कुल-धर्म, ग्राम-धर्म, देश-धर्म बहुत दिनों से प्रवृत्त हैं सर्व पूर्वजों से आदृत होते आये हैं । हम कैसे इनको त्यागें । कैसे आज तेरी कथा वा युक्ति को स्वीकार कर अनेक शताब्दी से आते हुए धर्म के परित्याग से लोक में हास्य को प्राप्त हो निन्दा शिर पर धारण करें । इस के उत्तर में यदि यह कहा जाता है कि क्या पूर्वज चोर थे इस हेतु हम सब को भी चोर ही होने चाहिये । इसपर इस की बात सुनने के योग्य नहीं । कान बन्द कर यहां से चले जाना चाहिये ऐसा कह

गन्तव्यमिति भणित्वा क्रुध्यन्तो निन्दितुम्वा योद्धुम्वा प्रारम्भन्ते । ग्रामीणा अपि वेदादिसच्छास्त्रवर्जमधीतपञ्चषग्रन्था एतानेवानुकुर्वन्ति । ये केचन सम्यगधीतिनस्तेऽपि मननव्यापारविरहितया अबुधाएव। तथा चोक्तम् । "यस्य नास्ति स्वयंप्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् । लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति" न हि शास्त्रपाठमात्रं कांश्चित् जनान् विबुधयति । तद्धि मननादिशास्त्रमपेक्षते । विवेकिनामीदृशान् निन्द्याचारान् पश्यतामपि औदासीन्यम् अनभिज्ञान् प्रत्युत अविवके दृढयति । यद्यपि बहुशो विघ्नाः सत्यतां प्रार्थयतां पथ्याऽऽगच्छन्ति । तथाप्युत्तमाः सत्यव्रता लोकहितेप्सवो न कदापि प्रमादयंति स्वानुष्ठानात् ॥

आत्मबलोपायाः ॥

आदौ पौनःपुन्येन प्रचलितव्यवहारा अध्येतव्याः । भूयोभूयस्तेषांगुणा दोषाश्च गम्भीरया निर्जनसेवापरिष्कृतया विमलया मेधया आत्मनि मीमांसनीयाः । दैशिकाः सुप्रसिद्धाः पक्षविरहिता गुणिनश्चात्र प्रष्टव्याः । इत्थमस्यां मीमां-

---

क्रुद्ध होते हुए निन्दा वा युद्ध करना आरम्भ करते हैं । ग्राम के रहनेहारे वेदादि सच्छास्त्रों को छोड़ केवल चार पांच ग्रन्थों के अध्ययन करने हारे इन के अनुकरण करते हैं और जो कोई सम्यग् पढ़ने हारे भी हैं । वे भी मनन व्यापार के न करने से अबुध के समान ही हैं । ऐसा कहा गया है (यस्य०) जिस को स्वयं बुद्धि नहीं है । उस को शास्त्र क्या करता है । लोचन हीन पुरुष को दर्पण क्या करेगा केवल शास्त्रपाठमात्र किन्हीं मनुष्यों को विद्वान् नहीं बनाता क्योंकि वह मननादि शास्त्र की अपेक्षा रखता है । ऐसे निन्द्य आचारों को देखते हुए भी विवेकी पुरुषों की उदासीनता अनभिज्ञ पुरुषों को अविवेक में दृढ करती है । यद्यपि ऐसे बहुत से विघ्न सत्यता के फैलाने हारों के मार्ग में आते हैं । परन्तु उत्तम, सत्यव्रत लोकहितेप्सु जन अपने कार्य से कदापि प्रमाद नहीं करते ।

प्रथम प्रचलित व्यवहारों का पुनः २ अध्ययन करे और उन के गुण दोषों को गम्भीर, निर्जनसेवा से परिष्कृत और विमल बुद्धि से वारम्वार मन में मीमांसा करे । देश के रहने हारे सुप्रसिद्ध और पक्षरहित गुणिजन भी इस में प्रष्टव्य हैं इस प्रकार इस विचार में बहुत काल बितावे । समस्त कार्य

सायां बहुकालः प्रथमं यापयितव्यः । समस्तकार्यजालं विहाय स्वकीयादर्थादपि समधिकतरं विज्ञाय भाविनीषु सन्ततिषु स्वदेशस्य सर्वास्ववस्थासु च करुणरसपूर्णां गम्भीरां दृष्टिं दत्वा चास्मिन् साध्ये सन्नद्धेन भाव्यम् । यथा रक्तःपुरुषः कामतन्मयो भवति । यथा धनलोलुपो धनार्जने रात्रिन्दिव-मुन्माद्यति । यथा योगी परमभक्तो वेश्वराराधने निमज्जति । यथा शिशुः क्रीड़ासक्तः पानाशनादिकमपि विस्मरति । किं बहुनोक्तेन, निजप्राणसमर्पणपणेनाप्यस्मिन्नासज्जनीयम् । जगत्यस्मिन् नातोऽधिकं शुभं कर्म । यज्ञो नाम यदि कश्चित्पदार्थस्तर्ह्ययं महायज्ञः । यदि संसारे भक्तिरस्ति तर्हीयं महती गरीयसी भक्तिः, यदि वीरता स्यात्तर्हीयं महावीरता । यदि पुरुषकारो नाम तर्ह्यतो को वा समधिकतरः पुरुषकारः यदीश्वराज्ञापालनमभीष्टं तर्हीदमेव यत्नेन रक्षितव्यम् । वर्तमानकाले हि तेन कोटिशो जना ज्ञानोदयं समासाद्यापूर्वसुखं भुञ्जते । देशे च शान्तिप्रवाहः स्रवति । भाविनः सन्तानाः समुन्नतिसोपानाऽऽरोहणाय प्राप्तावकाशा जायन्ते । लोकाः स्वातन्त्र्यं भजमाना ईश्वरीयमहिमानं प्रति प्रवणा भवन्ति । स्वातन्त्र्यपुरःसरं

की चिन्ता छोड़ इस को [illegible] कार्य से भी बहुत अधिक समझ भविष्यत् सन्तानों और [illegible] देश की सब दशाओं पर पूरी दृष्टि दे इस कार्य में सन्नद्ध होवे। जैसे रक्त पुरुष कामतन्मय होजाता । जैसे धनलोभी धन के उपार्जन में रात दिन उन्मत्त रहता, जैसे योगी वा परमभक्त ईश्वर के ध्यान में निमग्न रहता जैसे बालक निज क्रीड़ा में पड़ कर खाना पीना भी भूल जाता । बहुत क्या कहें, अपने प्राण को समर्पण कर इस में लग जाय । इससे बढ़कर जगत में कोई शुभकार्य्य नहीं। यदि यज्ञ नाम कोई पदार्थ है तो यह महायज्ञ है । यदि संसार में कोई भक्ति पदार्थ है तो यह महाभक्ति है । यदि कोई वीरता है तो यह महावीरता है । यदि कोई पुरुषकार है तो इस से बढ़कर कोई पुरुषकार नहीं । क्योंकि इससे वर्तमान में कोटियों पुरुष ज्ञान प्राप्त कर अपूर्व सुख को भोगते हैं । देश में शान्ति फैलती है । भविष्यत् सन्तानो को दिन २ समुन्नति-सोपान पर चढ़ने का अवसर प्राप्त हो जाता है। लोग स्वतन्त्र हो ईश्वरीय महिमा की ओर झुकते हैं स्वतन्त्रता पूर्वक विचार करे

विचारयन्तो विचक्षणा नवं नवं पदार्थमाविष्कुर्वन्ति । नहि जीवात्मने स्वातन्त्र्याद्न्यत् किञ्चन रोचते । यत उक्तम् "सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् । इति विद्यात्समासेन लक्षणं सुखःदुखयोः" सर्वात्मप्रत्ययप्रत्यक्षोऽयं विषयः । किमिह बहुवक्तव्यम् । अस्मादपि किमपि गुरुतरं कार्यं जगति साधनीयं मनुष्यशरीरेणास्तीति नाहं वेद्मि । अतोऽत्र कियती निष्कपटता कियती स्वार्थपरित्यागिता कियती बुद्धिगम्भीरता कियती बहुसुश्रुतता कियती अध्ययनप्रवचनशीलता च आवश्यकत्वेनापेक्षितास्तीति सर्वैर्जगद्धितैषिभिश्चिन्तनीयम् । अतोऽस्मिन् माङ्गलिके मनुष्येष्टिक्रतौ महाव्रते सम्यक्सम्पादनाय स्वमात्मानं दीक्षेत । नक्तं दिवं नैरन्तर्येणानुष्ठानं विधातव्यम् । आध्यात्मिकं भूयोभूयो मननमेवास्यानुष्ठानम् । इत्थं शान्तो जितेन्द्रियः समाहितचेताः परमोदारो निर्वैरोऽसमुद्धतो निरुद्वेगोऽशङ्कोऽभय आत्मविश्वासीश्वरप्रेमपरायणः परमास्तिकतासम्पन्नो महामनस्वी ब्रह्मवर्चस्वी भूत्वा अस्यांमनुष्येष्टौ प्रवर्तेत । तेन समाधिस्थेनात्मना तदा

हुए विचक्षण नव २ पदार्थ को आविष्कृत करते । जीवात्मा को स्वतन्त्रता से बढ़कर कोई भी पदार्थ प्रिय नहीं है कहा गया है "सब ही पर वश दुःख और सब आत्म वश सुख है यही संक्षेप से दुःख सुख का लक्षण जानना" । यह विषय सब आत्मा का प्रत्यक्ष है इस में अधिक क्या कहें । मैं नहीं कह सकता कि इस से बढ़कर भी अन्यकार्य मनुष्य शरीर से साधनीय है । इस हेतु इस में कितनी निष्कपटता, कितनी स्वार्थ-परित्यागिता, कितनी बुद्धि-गम्भीरता, कितनी बहुसुश्रुतता, और कितनी अध्ययन-प्रवचनशीलता की आवश्यकता है । इस हेतु इस महान् मांगलिक मनुष्येष्टि यज्ञ के सम्पादनार्थ प्रथम स्वयं इस महाव्रत में दीक्षित होवे । रात्रिन्दिवा निरन्तर इसका अनुष्ठान करता जाय । आध्यात्मिक विचार ही इसका अनुष्ठान है । इस प्रकार शान्त, जितेन्द्रिय, समाहितचेता, परम उदार, निर्वैर, निरुद्धत, निरुद्वेग, निःशङ्क, निर्भय, आत्मविश्वासी, ईश्वरप्रेमपरायण, परमआस्तिकतासम्पन्न, महामनस्वी, ब्रह्मवर्चस्वी होकर इस मनुष्येष्टि में तत्पर होवे । तब उस समाधिस्थ आत्मा से जो कुछ निर्णय होवे उसका

योहि निर्णयः स्यात् सोऽनुसरणीयः । अन्येचापि प्रयत्नेनानुसारयितव्याः स्थाने स्थाने विदुषां समितिं विधाय तदनाचारविध्वंसाय कायेन मनसा वाचा धनैर्विद्यया लोकैः सर्वया शक्त्या प्रयतितव्यम् । न कुलीनेभ्यो न ग्रामीणेभ्यो न दैशिकेभ्यो न राजन्येभ्यो न कस्मादपि हेतोर्विवेकस्थापनाय भेतव्यम् । स्वोदाहरणान्यपि तथैव दर्शयितव्यानि । यतश्चोक्तम् ।

परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम् ।
धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्तु महात्मनः ।

तस्मात्सद्युपदेष्टा यथानुशास्ति तथैव स्वयमपि वर्तेत । अन्यथा दाम्भिकत्वात् स्वयं यथेष्टाचरणाच्च सर्वैर्हीयते उपदेश्येषु च न श्रेयोऽभ्युदयः प्रत्युत धर्मग्लानि रुपदेष्टृषु चाश्रद्धोपचीयते । सत्येवं तदन्वागमिष्यत्सु सर्वगुणगुम्फितेषूपदेष्टृष्वपि अश्रद्धयाऽनन्तभाविकल्याणव्याघातः । तेन स महान् पापीयान् भवति यएवमाचरति । अतोयथास्वोपदेशं वर्तितव्यम् । न हि भूलिङ्गन्यायं

अनुसरण करे। अन्यों से प्रयत्न पूर्वक करवावे। स्थान २ में विद्वानों की समिति बनवाकर उस अधर्म और अनाचार के नाश के लिये काय, मन, वचन, धन, विद्या, लोग और सब शक्ति से यत्न करे। न कुल के, न ग्राम के, न देशके मनुष्यों से, न राज पुरुषों से और न किसी हेतु से विवेक स्थापन के लिये भय करे। अपना भी उदाहरण वैसा ही दिखलावे। जिस हेतु कहा गया है (कि सब कोई दूसरों के उपदेश में बड़ा पाण्डित्य खर्चते परन्तु विरले ही महात्मा निज कथनानुसार धर्म के लिये अनुष्ठान करते)। इस हेतु वह उपदेष्टा जैसा अनुशासन करता हो वैसा ही वर्ताव रक्खे ऐसा न करने से उन को दाम्भिक और यथेष्टाचारी समझ सब कोई त्याग देते हैं। और उपदेश्य पुरुषों में श्रेय का अभ्युदय भी नहीं होता। प्रत्युत धर्म की ग्लानि और उपदेष्टाओं में अश्रद्धा बढ़ती जाती है। ऐसा होने से उस के पीछे आने हारे सर्वगुणसम्पन्न भी उपदेष्टाओं में अश्रद्धा के कारण अनन्त भावी कल्याण का नाश हो जाता। इस हेतु वह महान् पापी होता जो ऐसा करता है इस हेतु निज उपदेश के अनुकूल आचारण किया करे। भूलिङ्ग (१) नाम

नोट-(१) भूलिङ्ग नाम का एक पक्षी होता है। वह प्रायः हिमाल

चरितार्थी-कुर्वता जना अविश्वासं लम्भयितव्याः । वरमुपदेशान्मौनसाधनम् । अन्यच्च—"देशे सन्ति विचक्षणाः सर्वविधाः । ते नानुसरन्ति सन्मार्गम् । कथमहमेव कर्तुं वा प्रचारयितुं वा प्रयतेय । जनापवादांश्च शृणुयाम् । किं मदीयैवोपलब्धिः । मदीया एव सर्वे फलानां भोक्तारः । अतः किमनेन जनरुचिविपरीतेन कलहिना बहुलप्रयासेन" इति विचार्य्य नोदासितव्यम् । अनेन हि देशे हानिरुपजायते । पुरुषकारएव मनुष्यतां सूचयति । कदाचिदिदमपि दृष्टं यत् प्रथमं प्रजा अश्रुतपूर्वविषयं ग्रहीतुं बोद्धुम्वा न शक्नुवन्ति, अतः क्रुध्यन्ति, उपदेष्टरि प्रस्तरलोष्टादिकं प्रक्षिपन्ति,

---

पक्षी सम्बन्धी न्याय को चरितार्थ करता हुआ वह मनुष्यों को अविश्वासी न बनावे । इस अवस्था में उपदेश से मौन साधन अच्छा है । और भी "देश में बहुत विचक्षणजन विद्यमान हैं, वे सत्यमार्ग का अनुसरण नहीं करते, तब क्यों मैं ही उसको करने के लिये वा प्रचार के लिये प्रयत्न करूं, जनापवादों को सुनूं, क्या मेरी ही इसमें उपलब्धि है । क्या मेरी ही स्वजातियां इसके फलों की भोक्ता होवेंगी । इस हेतु मनुष्यों की रुचि के विपरीत, कलहयुक्त और बहुलप्रयास-साध्य व्यापार से क्या प्रयोजन ?" यह विचारकर उदासीन न होवे इससे देश में बड़ी हानि होजाती । पुरुषकार ही मनुष्यता का सूचक है । कभी यह देखा गया है कि प्रथम प्रजाएं अश्रुतपूर्व विषय को ग्रहण वा समझने समर्था नहीं होतीं । अतः क्रोध करती हैं, उपदेष्टा के ऊपर पत्थर ढेला आदि फेंकतीं । लाठियों से प्रहार करती हैं,

---

पर्वतीय देश में वास करता । "मा साहसं कुरु" साहस मत करो ऐसी इसकी बोली होती है । परन्तु यह पक्षी स्वयं सिंह के दांत में लगे हुए मांस को निकाल निकाल कर खाया करता है । अर्थात् यह अपने कथन से विरुद्ध आचरण करता है । ऐसे ही जो जन परोपदेशमात्र में तो कुशल हैं परन्तु स्वयं जो मन में आता है सो करते हैं । ऐसे पुरुषों के लिये भूलिङ्ग पक्षी का दृष्टान्त दिया जाता है । महाभारत में इसकी कथा कई एक स्थान में आई है । सभापर्व अध्याय ४३ में में इस प्रकार है—

अथ चैषा न ते बुद्धिः, प्रकृतिं याति भारत ।

लगुडैः प्रहरन्ति, वानरीं विभीषिकां दर्शयन्ति कदाचिद् गुप्तस्थाने घातयन्त्यपि। सर्वमत्याहितं कर्तुं धर्माभासान्धास्तदा प्रयतन्ते। परन्तु शनैः शनैर्बोध्यमानास्त एव

वानर के समान विभीषिका दिखलातीं। कदाचित् गुप्त स्थान में उसको मरवा भी देती हैं। सब प्रकार से अत्याहित (अनाचार, अकर्त्तव्य) करने को पाप से उस समय धर्माभासान्ध होकर नहीं डरतीं, परन्तु शनैः शनैः समझाने पर वेही प्रजाएं

मयैव कथितं पूर्वं, भूलिङ्गशकुनिर्यथा ॥ २७ ॥
भूलिङ्गशकुनिर्नाम, पार्श्वे हिमवतः परे।
भीष्म ! तस्य सदावाचः, श्रूयन्तेऽर्थविगर्हिताः ॥ २८ ॥
मा साहसमितीदं सा सततं वाशते किल।
साहसं चात्मनातीव, चरन्ती नावबुद्ध्यते ॥ २९ ॥
सा हि मांसार्गलं भीष्म, मुखात् सिंहस्य खादतः।
दन्तान्तर्विलग्नं यत्, तदादत्तेऽल्पचेतना ॥ ३० ॥
इच्छतः सा हि सिंहस्य, भीष्म जीवत्य संशयम्।
तद्वत्त्वमप्य धार्म्मिष्ठ सदावाचः प्रभाषसे ॥ ३१ ॥

अर्थः—यहां शिशुपाल और भीष्मपितामह का संवाद है। शिशुपाल कहता है कि भीष्म ! यह आपकी बुद्धि का दोष है पूर्व में मैंने कहा था कि जैसे भूलिङ्ग पक्षी अपनी प्रकृति को नहीं छोड़ता है, वैसे ही आपकी बुद्धि अपनी प्रकृति को ही प्राप्त है ॥ २७ ॥ हे भीष्म ! हिमालय के एक किनारे में भूलिङ्ग नाम का एक पक्षी रहता है उसकी बोलियां अर्थविगर्हित सुनने में आती हैं ॥ २८ ॥ क्योंकि सर्वदा वह " मत साहस करो—मत साहस करो " ऐसा बोलता हुआ सुना जाता है परन्तु स्वयं इसको अत्यन्त उल्लङ्घन करता है ॥ २९ ॥ क्योंकि मांस खाते हुए सिंह के दाँतों में लगे हुए मांस को निकाल कर खाया करता है ॥ ३० ॥ हे भीष्म ! इसमें सन्देह नहीं कि सिंह की इच्छा से वह जी रहा है। नहीं तो उसका सब साहस क्षण में निकलजाता। तद्वत् आप भी इन राजाओं की इच्छा से ही ऐसा

चरणयोः पूजयान्ति । मृते च तस्मिन्नुपदेष्टरि "अहो अबोद्धारो ज्ञानलवदुर्विदग्धा वयं न तं महात्मानं लोकोत्तरमतिं पर्य्यचैष्मेत्येवं बहु विलप्य तदीयसिद्धान्तं सहर्षं गृह्णन्ति लोकाः । अतः सत्याभिसन्धायोपदेष्टव्यं न च जनमनसां विनोदाय । अतो विवेकोत्पादाय बहुधा चेष्टितव्यम् । प्राणपणेनापि सर्वं साधनीयम् ।

एतदर्थं द्वीपान्तरमपि प्रव्रजेत् । नह्येकमेव द्वीपं भगवता न्यायकारिणा धार्मिकैस्तत्त्वदर्शिभिराप्तैर्मण्डितम् । समस्नेहवत्त्वात् सर्वत्रैव महाभागा जनिताः । आदेया विद्यास्तेभ्योऽवश्यं गृह्णीयात् । आदाय च स्वदेशे च विस्तारयेत । यदि तत्रैव न्यूनता तर्हि स्वकीया एव विद्यास्तत्र दद्यात् । धर्मेऽपि निर्णयाद् यदुत्तमं सिध्येत् ।

उस उपदेष्टा के चरणों को पूजने लगती हैं । उसके मरने के पश्चात् 'अहो अबोद्धा ज्ञानलव–दुर्विदग्ध हम लोग उस लोकोत्तर बुद्धिवाले महात्मा को नहीं पहिचान सकीं' इस प्रकार बहुत विलाप कर तदीय सिद्धान्त को सहर्ष ग्रहण करती हैं इस हेतु सत्य की वृद्धि के लिये उपदेश करना ही चाहिये । मनुष्यों के मनोविनोद के लिये नहीं। इस हेतु विवेकोत्पादन के लिये बहुत चेष्टा करे । प्राणपण से भी इसको सिद्ध करे ।

एतदर्थ अन्य द्वीपों में भी जावे क्योंकि न्यायकारी भगवान् ने एकही द्वीप को धार्म्मिक तथा आप्त पुरुषों से मण्डित नहीं किया, क्योंकि ईश्वर का सर्वत्र सम ही स्नेह है । इस हेतु सर्वत्र महाभाग्यशाली पुरुष उत्पन्न हुए हैं, उनसे ग्रहणयोग्य विद्याएं अवश्य लेलेनी चाहिये और लेकर स्वदेश में उनका विस्तार करे । यदि वहां ही न्यूनता हो तो अपनी ही विद्याएं देवे, धर्म के विषय में भी निर्णय से जो उत्तम

साहस कर ऐसी २ बात बोल रहे हैं । आपसे बढ़कर कौन अधर्मी होगा । इस श्लोक पर भी ध्यान देना चाहिये—

न गाथा गाथिनं शास्ति, बहुचेदपि गायति ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि, भूलिङ्ग शकुनिर्यथा ॥ महाभा० सभापर्व ४० ॥

कितने ही गाया करे परन्तु गानेवाले को गाथा अनुशासन नहीं करती । प्राणी अपने स्वभाव को ही प्राप्त होता है, जैसे भूलिङ्ग पक्षी ॥

परस्परं तद् गृह्णीयात् । न हि सत्यात्परोधर्मः । यत्र निश्छलं सर्वप्रमाणसिद्धं सत्यं विराजते तत्रैव कल्याणम् । इत्थं विनिमयेनापि देशस्य महन्मङ्गलं भवति। म्लेच्छदेशा नाभिगन्तव्या इति भीरूणामबोधोपहतचेतसां च कथाः । म्लेच्छानपि हि धर्मपरायणान् विधाय ब्राह्मणपदवीं प्रापयेदिति विदुषां धार्मिकाणां नृणाञ्च कर्तव्यता । नह्येकस्मिन्नेव देशविशेषे म्लेच्छा निवसन्ति । अशुद्धाचरणा विद्या-विनय-कारुण्य-सत्यतादि-सद्गुणग्रामविहीना हि सर्व एव म्लेच्छाः । ईदृशा म्लेच्छाः सर्वत्रैव गृहे गृहे ग्रामे ग्रामे निवसन्ति । गृहं गृहमपवित्रताऽसत्यता चाधिकरोति । अनेन किं गृहमपि त्याज्यम् ? न । पृथिव्यां सर्वे जनाः शिष्टाचारैर्योजयितव्या इत्येषां शिष्टानां कर्तव्यता । अत्रचाभाणकः-

"नहि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते"

"न च मृगाः सन्तीति यवा नोप्यन्ते"

यद्येव मुच्येत—

"अरण्यरुदितं कृतं शवशरीरमुद् वर्तितम् । स्थले कमलरोपणं, सुचिर-

---

सिद्ध होवे परस्पर उसीका ग्रहण करे । सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं । जहां निश्छल सर्वप्रमाणसिद्ध सत्य विराजता है वहां ही सर्व कल्याण है । इस प्रकार विनिमय से भी देश में महा कल्याण होता है "म्लेच्छ देश में न जाना चाहिये" यह भीरुओं और अज्ञों की कथा है । क्योंकि म्लेच्छों को भी धर्मपरायण बनाकर ब्राह्मणपदवी तक पहुंचाना ही विद्वान् और धार्मिक पुरुषों का काम है । म्लेच्छ किसी एकही देश में नहीं रहते किन्तु जिनके शुद्ध आचरण नहीं हैं और विद्या, विनय, कारुण्य, सत्यतादि सद्गुण से जो रहित हैं वे सब ही म्लेच्छ हैं ऐसे म्लेच्छ सर्वत्र पाये जाते हैं । घर २ अपवित्रता, असत्यता वास कर रही है इस हेतु क्या घर भी छोड़ देना चाहिये ? नहीं । लोगों को शिष्ट बनाना ही शिष्टों का काम है । यहां एक आभाणक है:—

"भिक्षुक के डर से पाक करना बन्द नहीं करते वा मृगाओं के भय से गृहस्थ खेती करना नहीं छोड़ते" यदि ऐसा कहो कि जैसा "अरण्य-रोदन, मृत शरीर में उबटन लगाना, स्थल में कमलरोपण, ऊपर में वृष्टि, कुत्ते के पुच्छ को नवाना,

मूषरे वर्षितम् ॥ श्वपुच्छमवनामितं, बधिरकर्णजापः कृतः । कृतान्धमुखमण्डना, यदबुधोजनसेवितः" ॥

अतो म्लेच्छा अबुधास्तान् प्रति शिक्षाऽध्यापनादिव्यापराः पूर्वोदाहरणसमाः । नहीदं वाच्यम् । ईदृशानामज्ञानिनां सर्वत्र विद्यमानत्वात् सर्वत्रैवोपदेशविच्छेदप्रसङ्गः स्यात् । नहि सर्वो देशोऽबोधो भवितुमर्हति । यदिस्यादेव तथापि यदा पशूनपि विहगानपि शिक्षितुं वयं समर्थास्तदा मनुष्यान् कथन्न मनुष्यान् विधातुं पारयिष्यामः । अत एषा सर्वा विद्याविहीनानां कथेति त्यजेत् । अन्यान्देशान् द्वीपान्तराणि च सर्वदा गच्छेत् । द्वीपान्तरयात्रायां सन्ति वेदेषु बहूनि प्रमाणानि । अन्यच्च–रघुरामादयः सर्वान् देशान् गत्वाऽजैषुः । ऋषयोऽपि देशान्तराणि स्वगमनेन पवित्रीकृत्योपदिदिशुः । अद्यतना भारतकुलाङ्गारा मूढधियो विदेशयात्रां निवारयन्ति । यदा ईदृशो मूढा अनधीतवेदा अविदितार्षमार्गाः प्रचलितव्यवहारानुमोदनेन मूर्खजनाभिनन्दिनः स्वार्थान्धा मानवप्रेमवासनाविरहिताः पूर्वापराविचारिणोऽदीर्घदर्शिनो भारतवर्षं स्वजन्मना दूषितवन्तोऽपवित्रीकृतवन्तस्तदैव विवेकोऽस्मान्निष्क्रम्य द्वीपान्तरमाश्रितः ।

बधिर के कर्ण में जप और अन्ध पुरुष के मुख का मण्डन करना व्यर्थ है वैसी ही अबुधजनों की सेवा है" । जिस हेतु म्लेच्छ अबुध हैं इस हेतु इनको सिखलाना, पढ़ाना, पूर्व उदाहरणसमान होंगे । नहीं, यह बात नहीं । ऐसे अज्ञानी सर्वत्र विद्यमान हैं फिर आप कहीं उपदेश नहीं कर सकते । देश के देश सब ही अज्ञानी नहीं हो सकते । यदि होवें तब भी जब पशुपक्षियों को भी हम शिक्षित कर सकते हैं तो क्या मनुष्य को मनुष्य नहीं बना सकते । अतः यह सब विद्याविहीन पुरुषों की बात है । इसको त्यागो । अन्य देशों और द्वीपों में बराबर जाओ । इसमें वेद के बहुत प्रमाण हैं । रघु रामादिकों ने सब देशों में जाकर विजय किया। ऋषि सब देश में जाकर उपदेश देते थे । आजकल के भारत-कुलाङ्गारों ने इसको रोक रक्खा है । ऐसे २ मूढ़ जब देश में उत्पन्न हुए तब ही विवेक ने भागकर अन्य द्वीपों का आश्रय लिया ।

आत्मशक्तिः ॥

आत्मवतां नहि किमप्यसाध्यं नाम वर्त्तते । सन्ति जीवात्मनि दिव्यगुणाः समवेताः । न तान् वयमधीमहे न चाध्यापयामः । अतोऽपि पदे पदेऽवसीदामो मुह्यामश्च । अप्रत्यक्षोऽपि अणीयानपि आत्मा महदाश्चर्यं चरितुमर्हति । इदमात्मबलमेव यदेकोऽपि श्रीरामः पञ्चवटीमाश्रितान् सर्वान् राक्षसान् हन्तु मृषीणां सन्निधौ प्रतिजज्ञे । एकोऽपि महावीरः सर्वेष्वपि राक्षसेषु महाभटेषु पश्यत्सु लङ्कां ददाह । एकलो जनमेजयः पारिक्षितः सम्पूर्णां पृथिवीं व्यजेष्ट । शार्य्यातोमानवस्तथा । तद्यथा—

"तस्माद् जनमेजयः पारिक्षितः समन्तं सर्वतः पृथिवीं जयन् परीयायाश्वेन च मेध्येनेजे । तदेषाभिजयगाथा गीयते । आसन्दीवति धान्यादं रुक्मिणं

आत्मशक्ति ॥

आत्मवान् पुरुषों को कोई भी असाध्य वस्तु नहीं । क्योंकि जीवात्मा में बहुत गुण समवेत (मिले हुए) हैं; उनको न हम लोग पढ़ते और न पढ़ाते हैं । इस हेतु से भी पद २ में हम लोग दुःखित और मोहित होते हैं । यद्यपि यह आत्मा अप्रत्यक्ष और बहुत अणु है तथापि महा आश्चर्य कार्य करने में समर्थ है । यह आत्मबल ही है कि एक ही श्रीरामचन्द्र ने पञ्चवटी के आश्रित सब राक्षसों के हनन के हेतु ऋषियों और मुनियों के समीप प्रतिज्ञा की । एक ही महावीर ने महायोद्धा सर्व राक्षसों के देखते २ लङ्का को भस्म करदिया । एक ही परिक्षित के पुत्र जनमेजय ने सम्पूर्ण पृथिवी का विजय किया । मनुपुत्र शार्यात ने भी ऐतरेय-ब्राह्मण में इन महा योद्धाओं की आख्यायिका पठित है । वह यह है:—

उस हेतु पारिक्षित जनमेजय सब तरफ़ से पृथिवी के अन्ततक जीतता हुआ मेध्य अश्व के साथ लौट आया और अश्वमेध यज्ञ किया । इनकी विजय गाथा इस प्रकार गाई जाती है (आसन्दीवति) सिंहासन के निकट (धान्यादम्) धान्य खाते हुए (रुक्मिणम्) सुवर्णालङ्कार से भूषित अथवा जिसके मस्तकपर

हरितस्रजम् । अश्वं बबन्ध सारंगम्, देवेभ्यो जनमेजयः" ॥

यवनोऽलक्ष्येन्द्रोऽपि श्रूयते प्रायः सम्पूर्णां पृथिवीं विजितवान् । एतत्सर्वमात्मशक्तिविजृम्भणम् ।

छन्दोगा आमनन्ति । य आत्मवित् पुरुषः "स एकधा भवति । त्रिधा भवति । पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव । पुनश्चैकादश स्मृतः । शतञ्च दशचैकश्च सहस्राणि च । विंशतिः" छा० ७–२६–२ । माध्यन्दिना आमनन्ति "यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन् सन्देह्ये गहने प्रविष्टः स विश्वकृत् स हि सर्वस्य कर्त्ता तस्य लोकः स तु लोक एव" । बृ० उ० ४ । ४ । १३ ॥

विजय चिह्न लगा हुआ है (हरितस्रजम्) हरित वर्ण की माला से सुशोभित (अश्वम्) अश्व को (जनमेजयः) जनमेजय ने (देवेभ्यः) वैदिक आर्यों की प्रसन्नता के लिये (बबन्ध) बांधा । प्राचीन चाल थी कि राजा अपने सिंहासन के निकट उस अश्व को बांधकर रखता था जिसपर चढ़कर उसने पृथिवी पर का विजय पाया है । प्राचीनकाल में वैदिकधर्म-विहीन को असुर और वैदिक-धर्मावलम्बियों को देव कहते थे ।

यवन अलक्ष्येन्द्र (ऐलेग्ज़ैण्डर) ने भी प्रायः सम्पूर्ण पृथिवी का विजय किया था । यह सब आत्मशक्ति का ही प्रकाश है ।

छन्दोग लोग कहते हैं (यः०) जो आत्मतत्त्ववेत्ता है वह प्रथम (एकधा+भवति) एक ही रहता तब (त्रिधा भवति०) तीन, पांच, सात, नौ, ग्यारह, शत, कई सहस्र होता जाता है । अभिप्राय यह है कि ज्यों ज्यों आत्मिक शक्ति बढ़ती जाती है त्यों त्यों उसके वश में मनुष्य होते जाते । इस प्रकार अन्त में देश के देश उसके अधीन हो उसकी शक्ति को बहुत बढ़ा देते हैं । माध्यन्दिन कहते हैं (अस्मिन्+संदेह्ये) इस शरीर में (प्रविष्टः) प्रविष्ट (यस्य+आत्मा) जिसका जीवात्मा (अनुवित्तः) मननादि व्यापार के पश्चात् तत्त्वों को प्राप्त कर लिया है इसी हेतु (प्रतिबुद्धः) सब तरह से जागृत हो गया है वा सब ज्ञान को प्राप्त हुआ है (सः+विश्वकृत्) वह सब कार्य के करनेहारा होता (हि) क्योंकि (सः सर्व-

स्यात्तावद् वटबीजमियतो महतोद्रुमस्य जन्मदाने प्रचुरशक्ति । यदि तन्नोचितायां भूमावुप्येत तर्हि किं करिष्यति । तीक्ष्णाप्यसिधारा कोणे स्थापिता चिररात्रायाऽप्रयुक्ता मलिनायते गृहमूषिकमपि छेत्तुं नालम् । एवमेव सर्वगुणैः समलङ्कृतोऽपि जीवात्मा यदि समुचितविनियोगरहितस्तर्हि न किमपि शुभं

स्य+कर्ता) सब का कर्ता है (तस्य+लोकः) उसी का संसार है (सः तु+लोकः एव) वह संसारस्वरूप ही है । इसका भी पूर्ववत् ही भाव है । यथार्थ में देखो तो भौतिक जगत् को ईश्वर ने रचा परन्तु मनुष्यों में जो कुछ धर्मव्यवहार वा राजकीय व्यवहार वा लौकिक व्यवहार है उस सब का कर्ता वही आत्मवित् है । देखते ही हो कि जिसने किञ्चित् आत्मतत्त्व को पाया है । उसके वश में भी सहस्रों पुरुष हो जाते हैं परन्तु जिसने अच्छे प्रकार आत्मतत्त्व का अध्ययन किया है उसके वश में क्यों नहीं सब कोई होवेंगे । वह आत्मवित् जगत् में जैसा परिवर्तन करना चाहता वैसा करके दिखला देता है, इस हेतु मूल में (सर्वस्य+कर्ता) सब का कर्त्ता वह कहा गया है । जब आध्यात्मिक शक्ति बहुत बढ़ जाती है तो जगत् के सब लोगों को अपने समान देखने लगता है । और लोग उससे किञ्चित् भी भेद नहीं रखते हैं इसी हेतु मूल में कहा है कि उसीका संसार है । वह संसारस्वरूप है । यहां संसार शब्द से संसारस्थ मनुष्य का ग्रहण है, जैसे आजकल भी कहते हैं कि 'मेरा देश गिर गया मूर्ख हो गया' इत्यादि यहां देश से देशस्थ पुरुषों का ग्रहण है । इस हेतु आत्मशक्ति का परिचय भी होना साधकों के लिये आवश्यक है ।

इतने महान् वटवृक्ष के जन्मदान में प्रचुर-शक्ति-सम्पन्न वटबीज भले ही होवे । परन्तु यदि उचित भूमि में वह न बोया जाय तो वह क्या कर सकता है । तीक्ष्ण खड्गधारा यदि गृह के कोने में स्थापित रहे बहुत दिनों से उससे काम न लिया गया हो तो अवश्य मलिन हो जायगी । और गृह के चूहे काटने को भी समर्थ न होगी । इसी प्रकार सब गुणों से समलङ्कृत भी जीवात्मा यदि समुचित विनियोग रहित (अर्थात् जो उससे काम लेना चाहिये वह नहीं किया जाता) है तो कुछ भी शुभकर्म सम्पादन नहीं कर सकता । इस हेतु वैसे खड्ग से कार्य्य लेते

सम्पादयितुं कल्पते । अतोऽसिप्रभृतिकरणवज्जीवात्मना कार्य्यं साध्यम् । यथा यथैनं कार्येषु विनियुञ्जते । तथा तथाऽस्य शक्तिरुपचीयते । खड्गादि साधनन्तु कदाचिन्-मूर्च्छति कुण्ठति क्षुभ्यति च । अयन्तु सम्यग् यथाविधिविनियुक्तः सन् बलवत्तरस्तीक्ष्णः सूक्ष्मो बुद्धिमत्तरः सूक्ष्मातिसूक्ष्मतत्त्वावगाही भवति । क्रमशः क्रमशोवटवृक्ष इव विविधविद्यातत्तद्विवेकादिपल्लवितः सन् बहु शोभते । आश्रितांश्च सर्वदा सुखयति च ।

ब्रह्म-भक्ति-दर्शनादि विचारः ॥

अत्र केचित् प्रत्यवतिष्ठन्ते । इयत्तया विद्याः परिच्छेत्तुं न शक्यन्ते । यावन्तो हि पदार्थास्तावत्यो विद्याः । तावत् पृथिवीस्थानामेव पदार्थजातानामानन्त्यम् । चेतनानामेव चतुरशीतिकोटिसंख्याः पौराणिकैर्गण्यन्ते । असंख्येया ओषधयो देशभेदेन विलक्षणाः । सामुद्रिकानां यादसां ज्ञानमपि न समस्ति मनुष्याणाम् । इत्थमल्पायुर्मनुष्यो यदि सर्वपदार्थस्य नामावगणयितुं साहसिको भवेत्तर्हि सम्पूर्णेनाऽऽयुषा नामगणनाया अपि पर्य्यवसानं न भवेत् । कुतस्तरां तन्निबन्ध-

---

वैसे ही आत्मा से भी कार्य लेना चाहिये । यह आत्मा भी साधनवत् ही है । जैसे २ इसको कार्य में लगाते वैसे २ इसकी शक्ति बढ़ती जाती है । खड्ग आदि साधन तो मूर्छित, कुण्ठित, छिन्न भिन्न भी हो जाता है और अन्त में बिलकुल टूट जाता परन्तु यह आत्मा तो सम्यक् यथाविधि कार्य में विनियुक्त होने से बलवत्तर, तीक्ष्ण, बुद्धिमत्तर और सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्वावगाही होता है । क्रमशः क्रमशः वटवृक्ष के समान विविध विद्याओं से और उस २ विवेक से पल्लवित हो बहुत शोभायुक्त हो अपने आश्रितों को बहुत सुख देता है ।

ब्रह्म-भक्ति-दर्शनादि विचार ॥

यहां कोई शङ्का करते हैं कि इतनी ही विद्याएं हैं यह नहीं कह सकते, क्योंकि जितने पदार्थ उतनी विद्याएं । प्रथम पृथिविस्थ पदार्थों का ही अन्त नहीं । पौराणिक कहते हैं कि ८४ कोटि योनियां चेतनों की हैं । ओषधियां असंख्येय देश भेद से बड़ी बड़ी विलक्षण हैं । सामुद्रिक सकल जन्तुओं का ज्ञान भी मनुष्यों को नहीं है । इस प्रकार अल्पायु मनुष्य यदि सब पदार्थ के नाम ही गिनने के लिये साहस करे तो सम्पूर्ण आयु से भी नामगणना की समाप्ति न होगी । तब कैसे

नाया विद्याया लाभः । अतः सर्वं परित्यज्य मातापितृसहस्रेभ्योऽपि अधिकवात्सल्यशाली भगवानेव प्रतिक्षणं शुश्रूषितव्यः । स एव तुष्टो बुद्धिं भक्तिं चान्तेऽत्यन्तसुखं कैवल्यञ्च प्रदास्यति । किं बहुलायासैरपि असाध्यया मनोरथखेदकर्या विद्यया । तथा चाभाणकः "अर्के चेन्मधु विन्देत, किमर्थं पर्वतं व्रजेत् । इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ, को विद्वान् यत्नमाचरेत् ।" अतो नेदं साहसं विचारचारु प्रतिभाति मे । समाधत्ते । मनुष्यसर्जने यद्येवमाशयवान् भगवान् स्यात् तर्हीदृशी सृष्टिरेवानुचिता स्यात् । कथमिव । शृणु । इतरजीवेभ्योऽधिका जिज्ञासावती च मनुष्यबुद्धिरस्तीत्यत्र न कोऽपि प्रश्नावकाशः । सा किमर्थेति चिन्तायां जाग्रत्यां किमुत्तरीष्यति भवान् । अन्ये जीवा ब्रह्म विज्ञानायाक्षमा वयन्तु तया बुद्ध्या तज्ज्ञातुं समर्थाः अतो ब्रह्मविज्ञानार्थेयं बुद्धिरिति प्रतिवक्ष्यामि । सत्यमेतत् । तर्हि समायातो

तत्सम्बन्धी विद्या के लाभ की आशा हो सकती है, इस हेतु सब परित्याग कर सहस्रों माता पिता से कहीं बढ़कर वात्सल्यशाली भगवान ही प्रतिक्षण शुश्रूषितव्य है। वही तुष्ट होकर बुद्धि भक्ति और अन्त में अत्यन्त सुखकारी कैवल्य को भी देवेगा। बहुत परिश्रम से भी असाध्य और मनोरथ को खेद पहुंचानेहारी विद्याओं से क्या प्रयोजन है ? इस विषय में एक आभाणक है "अर्के चेत् मधु विन्देत" इत्यादि (१) इस हेतु मुझ को यह साहस विचारचारु प्रतिभासित नहीं होता । (समाधान) मनुष्य की सृष्टि करने में भगवान् का यदि ऐसा ही आशय हो तो ऐसी सृष्टि करनी ही अनुचित थी । कैसे सो सुनो—अन्य जीवों से मनुष्य की अधिक और जिज्ञासा करनेहारी बुद्धि है इसमें कोई प्रश्नावकाश नहीं, वह बुद्धि किस प्रयोजन के लिये है ? ऐसी चिन्ता जागृत होने पर आप क्या उत्तर देवेंगे । अन्य जीव साधारण बुद्धि से ब्रह्म जानने को असमर्थ हैं । परन्तु हम मनुष्य मानवी बुद्धि से उसको जान सकते, इस हेतु ब्रह्म विज्ञान के लिये वह बुद्धि है यह उत्तर मैं दूंगा । सत्य है । तब मेरा ही सिद्धान्त

(१)—घर के कोने में ही यदि मधु मिल जाय तो कौन मूर्ख मधु के लिये पर्वत पर जायगा । इष्ट अर्थ की अच्छे प्रकार सिद्धि हो जाने पर कौन विद्वान् यत्न करे ॥

मम राद्धान्तः। कथय तर्हि कथं ब्रह्मपरिचयः। अहमिदं वच्मि—ईश्वरनामधेय मानिशं जपिष्यामि। स प्रसन्नः स्वात्मानं दर्शयिष्यति। तेनैव कृतकृत्यता स्यात्। तथाहुः कठशाखिनः—

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष वृणुते तनूं स्वाम् ॥"

इयं श्रुतिः प्रवचनमेधाश्रवणादीनां ब्रह्मदर्शकत्वं निवारयति बोधयति च केवलां भक्तिम्। तद्युक्तायैव सहीश्वरो वरं ददद् दृष्टोस्ति। आथर्वणिका अप्येवं मन्यन्ते "तमेवैकं जानथ आत्मान मन्यावाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः" एतेन प्रतीयते भक्तिरेव गरीयसी। सा न कदापि विद्यामधिकरोति। अपेक्षते तु केवला मनन्यगामिनीं प्रीतिम्। सा नहि विद्याया नवा पदार्थविज्ञानाज्जायते। अतः कृतमप्रामाणिक्या विद्यया।

आया। अच्छा यह कहो, ब्रह्मपरिचय का कौनसा उपाय है ?। इसके उत्तर में मैं कहूंगा कि ईश्वर का नाम जपूंगा। वह प्रसन्न हो अपना आत्मा (शरीर) दिखलावेगा और उससे सर्वत्र कृतकृत्यता होगी। कठशाखी भी ऐसा ही कहते हैं।

(नायमात्मा०) यह परमात्मा वेदादिकों के व्याख्यानों से, सूक्ष्म बुद्धि से अथवा अनेक शास्त्रों के श्रवण से, अथवा विविध तर्क-वितर्कादि से प्राप्त नहीं होता, किन्तु जिसके ऊपर उसकी कृपा होती है उस भक्त को निज शरीर वह भक्तवत्सल दिखला देता है।

यह श्रुति साक्षात् निषेध करती है कि प्रवचन, मेधा और श्रवणादिक उपायों से ईश्वर का दर्शन नहीं होता और भक्ति को बतलाती है। क्योंकि भक्तियुक्त पुरुष को ही वर देता हुआ श्रीभगवान् देखा गया है। आथर्वणिक भी ऐसा ही कहते हैं (तमेवैकम्०) हे शिष्यो! हे मनुष्यो! उसी एक परमात्मा को अच्छे प्रकार जानो। अन्य व्यर्थ व्याख्यानादिकों को त्यागो। यही परमात्मा अमृत का सेतु है। इससे भक्ति ही श्रेष्ठ प्रतीत होती उस भक्ति में विद्या का अधिकार नहीं। वह केवल अनन्यगामिनी प्रीति चाहती है क्योंकि वह भक्ति न विद्या से न

समाधत्ते। किं च भोः, त्वमीश्वरं मन्यसे जीवात्मानमपि तस्मात् पृथङ् मन्यसे। जीवात्मा द्रष्टास्ति। ईश्वरोऽपिद्रष्टा सर्वव्यापकश्चास्तीत्यत्रापि न कश्चित्सन्देहः। तर्हि विभावय–जीवात्मसन्निधौ सर्वदेश्वरः वर्त्ततेतरां सर्वव्यापकत्वात्। तर्हि सदैष जीव ईश्वरं न पश्यति किम्? अन्धो नाम न किमपि पश्येत्। नायमात्मान्धः। तथाहं त्वां प्रत्यासन्नं साक्षात् पश्यामि एवमेवात्मा परमात्मानं सन्निहितं कथं न पश्येत्? एतेनात्मा प्रतिक्षणमेवेशं पश्यतीति फलति। आत्मा हृदि तिष्ठति "हृद्येष आत्मेति" श्रुतेः तत्र ब्रह्मणोऽपि सद्भावात् सदा दर्शनं भवतीति कः सन्देहः। के वादिन एतत्प्रतिषेधेयुः। अथ कश्चिद् वादी वदति स्यादेतत्। अत्रायं सन्देह उदेति। ब्रह्म तु बाह्ये चाभ्यन्तरे च सममेवास्ति। इत्थं यथा बाह्यतो न तस्य दर्शनं तथाऽभ्यन्तरतोऽपि न भवतीति प्रतीयते। अन्यच्च अभ्यन्तरतो यदि तस्य दर्शनमुपैति तर्हि कथं न स्वयमेव वक्ति जीवात्मा "अहमीशं पश्यामीति" न तु केषांचिदप्येष प्रत्ययः कदाचिदपि

पदार्थविज्ञान से उत्पन्न होती, इस हेतु अप्रामाणिक विद्या से क्या लाभ होगा।

(समाधान) सुनो तुम ईश्वर को और जीवात्मा को भी उससे पृथक् मानते हो। जीवात्मा देखनेहारा है, ईश्वर सर्व व्यापक द्रष्टा है। इन बातों में कुछ सन्देह नहीं है। तब अब विचारो–जीवात्मा की सन्निधि में ईश्वर सर्वदा ही रहता है। क्योंकि वह व्यापक है। तब यह जीव ईश्वर को सदा नहीं देखता है? क्या–अन्धा भले ही न देखे। परन्तु यह आत्मा अन्ध नहीं। इस हेतु इस से यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा ईश्वर को प्रतिक्षण देखा ही करता, आत्मा हृदय में रहता है यह श्रुति कहती है वहां ब्रह्म की भी सत्ता है। तब जीव को सदा ईश्वर का दर्शन होता इसमें क्या सन्देह है। कौन वादी इसको निषेध कर सकता है। वादी कहता है ऐसा ही हो परन्तु यहां एक सन्देह उदित होता है। ब्रह्म तो बाहर भीतर दोनों में समभाव से है जैसे बाहर से उसका दर्शन नहीं वैसे ही अभ्यन्तर से भी दर्शन नहीं होता होगा ऐसी प्रत्यक्ष प्रतीति होती है। और भी, यदि अभ्यन्तर से यह जीवात्मा दर्शन पाता तब स्वयं जीवात्मा क्यों नहीं अन्य लोगों से कहा करता है कि मैं ईश्वर को देखता हूं। अथवा तब उसके दर्शन के लिये इतना उत्सुक ही क्यों सदा रहता है

दृष्टः श्रुतश्च । अतोऽभ्यन्तरेऽपि न दर्शनाभ्युपगमनमिति मन्ये । सिद्धान्ती-नैतद्विचारसहम् । कथमिव-अभ्यन्तरे न कोऽपि प्रतिबन्धो येन युक्तो न पश्येत् । बाह्येत्वेष सर्वं स्थूलकरणैराचरति । तेषां स्थूलकरणानां सूक्ष्मतमे ब्रह्मणि न प्रवेशः । एष प्रत्यक्षविषयः सर्वेषां परीक्षकापरीक्षकाणां सामान्येन । वहिर्गतमीश्वरं हृदिस्थो जीवः कथं स्वयं पश्येत् शरीरव्यवधानात् । अन्तःस्थस्य न किमपि व्यवधानम् । अतस्तत्र कथन्न पश्येत् । तर्हि कथन्नवक्तीति अभाषणस्य त्वेतत्कारणम् । बाह्यतः स्थूलकरणैर्यद् यत् किमपि संचिनोति तत्तत् बाह्यतः प्रकाशयति । अभ्यन्तरविज्ञातमभ्यन्तरे तु प्रकाशयतीति नियमो दृश्यते । कथमिव–यतः सर्वे वादिनो ज्ञानवानात्मेति स्वीकुर्वन्ति । एवं भूतोऽपि । "अयं सर्पोऽस्ति, अस्य दंशनेन जनो म्रियते, अतो नायं हस्तेन स्पर्शनीयः । अयं विषोऽस्ति, अस्य पानेन मृत्युर्भवति

और ऐसा प्रत्यक्ष भी किन ही को नहीं देखा सुना गया । इस हेतु अभ्यन्तर में दर्शन की प्राप्ति नहीं होती, सिद्धान्ती कहता है यह आपका कथन विचार योग्य नहीं । कैसे, अभ्यन्तर में कोई भी प्रतिबन्ध नहीं है । जिस से युक्त हो आत्मा परमात्मा को न देख सके । यह जीवात्मा बाह्य में स्थूलेन्द्रियों से सब काम करता है उन स्थूलेन्द्रियों का परमसूक्ष्म ब्रह्म में प्रवेश नहीं होता । यह परीक्षक और अपरीक्षक दोनों का प्रत्यक्ष विषय है । वहिर्गत ईश्वर को हृदिस्थ जीव कैसे देख सकेगा क्योंकि शरीर व्यवहित है । अन्तःस्थ जीव का कोई भी व्यवधान नहीं । इस हेतु वहां तो देख सकता है । तो कहता है क्यों नहीं ? न कहने का यही कारण है यह नियम प्रतीत होता है कि बाहर स्थूल इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ यह संचय करता है उस २ को बाहर के उन इन्द्रियों के द्वारा प्रकाश करता और भीतर का जो विज्ञान है सो भीतर ही प्रकाश करता है क्योंकि सब वादी इस आत्मा को ज्ञानवान् स्वीकार करते हैं । अब आश्चर्य देखो कि यह आत्मा ज्ञानवान् होने पर भी "यह सर्प है इस के काटने से मनुष्य मर जाता, इस हेतु इसको हाथ से छूना नहीं चाहिये । यह विषय है इसके पान से मृत्यु होता इस हेतु इसे नहीं पीना चाहिये" इत्यादि वस्तु ज्ञान बाहर से जब तक नहीं लाभ करता है तब तक

अतो न पेय" इत्यादीनि वस्तु-ज्ञानानि बाह्यतो यावन्न लभते तावत् किमपि न जानाति न किमप्याविष्करोति। अतः प्रतिबन्धकाभावादन्तर्दर्शनं भावती-

वह कुछ नहीं जानता है । कुछ आविष्कार नहीं करता हैं । भाव इस का यह है कि जीवात्मा सदा एक रस रहता न यह बालक, न युवा, न वृद्ध होता और न यह घटता न बढ़ता न मोटाता न दुर्बल होता । जो कुछ है उसी रूप से सदा बना रहता है यह शास्त्रों का सिद्धान्त हैं । अब एक अत्यन्त छोटे बालक के निकट विषधर सर्प रक्खो । इसको देखकर किञ्चित् भी भय नहीं होगा, उसको हाथ से पकड़ने की चेष्टा करेगा इस बच्चे के भीतर जो आत्मा है वह तो सब कुछ जान रहा है और उसी आत्मा की चेष्टा से शरीर चेष्टित होता है । तो इस अवस्था में वह बालक उस विषधर सर्प को पकड़ने के लिये क्यों चेष्टा करता और भय क्यों नहीं खाता? यदि कहो कि वह अन्तःस्थ आत्मा सर्प के गुण अवगुण को भूला हुआ है इस हेतु पकड़ता है तो यह कथन सुन्दर नहीं । आत्मा ज्ञानी है यह प्रथम ही स्वीकार हो चुका है । अथवा जिस वस्तु को हम सर्वदा देखा करते हैं उसको नहीं भूल सकते विशेष वस्तु का विस्मरण होता सामान्य का नहीं । अब इस नियम पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करो कोई योनि नहीं है जहां सर्प का दर्शन न होता हो । यदि यह कहो कि मनुष्यातिरिक्त योनि में सर्पादि का बोध नहीं प्रथम तो इस में कोई प्रमाण नहीं । दूसरा यदि "दुर्जन संतोष" न्याय से मान भी लेवें तथापि सब आत्मा अन्य योनि से ही मनुष्यशरीर में नहीं आता । तब जो जीवात्मा एक मनुष्य शरीर से दूसरे मनुष्य शरीर में आया है उसको तो स्मरण रहना चाहिये सो कहीं नहीं देखा जाता, यदि कहो कि भूल जाता है तो यह कथन पूर्वोक्त नियम से उचित नहीं क्योंकि विशेष को भूलता है सामान्य को नहीं । अर्थात् जैसे किसी ने युवावस्था में कलकत्ता वा मुम्बई को देखा तब से बहुत वर्ष व्यतीत हो गये पुनः कलकत्ता नहीं गया । कलकत्ते के आकार आदि को वह कदापि नहीं भूलेगा। उसकी आंख के सामने स्मरण करते ही कलकत्ते का आकार आजावेगा । यह बात कदाचित् भूल जायगी कि मैंने अमुक पुरुष से क्या बातें की थीं उन्होंने मुझे क्या २ भोजन करवाया था । भोजन की सामग्री के नाम न स्मरण हों । ऐसी २ बातें भूल सकती हैं परन्तु सामान्य विषय का विस्मरण नहीं हो सकता ।

यदि कहो कि अत्यन्त बाल्यावस्था की सामान्य बात भी तो विस्मृत होजाती, इसका उत्तर मेरे सिद्धान्त में तो बहुत सरल है परन्तु तुम्हारे मत में इसका उत्तर होना अशक्य है। अभी मैं लिख चुका हूं कि अभ्यन्तर से जिसको आत्मा देखता सुनता है उसका बोध अभ्यन्तर ही में रहता कदापि भी बाहर नहीं होता। बाल्यावस्था में बाह्य इन्द्रिय बहुत दुर्बल और विषय ग्रहण में अपटु रहता। इस हेतु मानो, बाल्यावस्था में बाहर से कुछ देखा सुना ही नहीं। पुनः स्मरण क्या होवे। बाल्यावस्था के अनन्तर इन्द्रिय विषय ग्रहण में बाहर से बलिष्ठ और पटु होता जाता है। इस हेतु इस अवस्था से सामान्य वस्तु की विस्मृति नहीं होती। इस प्रकार मेरे मन्तव्य में संगति होती है। तुम्हारे सिद्धान्त में कदापि भी संगति नहीं। तुम विचारो जब आत्मा को एकरस निर्विकार और चेतन मानते हो तो अति बाल्यावस्था में सर्प से क्यों नहीं डरता? बाल्यावस्था में भी सर्पज्ञान होना चाहिये। सो नहीं देखते। अतः अनुमान होता है कि अभ्यन्तर ज्ञान केवल अभ्यन्तर के लिये, बाह्य ज्ञान बाहर के लिये है। यह आत्मतत्त्व अत्यन्त कठिन विषय है। इसको अब अधिक न बढ़ावें। प्रकृत विषय का अनुसरण करें॥

देखो, शङ्कर सिद्धान्त देखने से मालूम होगा कि सुषुप्ति अवस्था में यह आत्मा सर्वथा ईश्वर से मिलता है। शङ्कराचार्य ने पद पद पर वर्णन किया है और इन श्रुतियों को प्रमाण में देते हैं:—

"यत्रैतत्पुरुषः स्वपितिनाम, सदा सोम्य सता सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति। इत्यादि। छा० उ०। ६। ८। १॥"

इस सब से भी स्वीकार करना पड़ेगा कि जीवात्मा को ईश्वर का दर्शन साक्षात् सब दिन होता है। अतः प्रतिबन्धक के अभाव से अन्तःकरण में दर्शन होता इस में सन्देह नहीं, यह सर्व आस्तिक सिद्धान्त है।

त्यत्र तु न संशयितव्यम्। एवंसति सर्वव्यापकत्वाच्च ब्रह्मणः स्पर्शनमपि प्रतिक्षणं भवतीत्यपि अभ्युपैष्यस्येव। दर्शनस्पर्शनयो रभ्युपगम्यमानयोर्भाषण

और सर्वव्यापक होने से सब जीवों के साथ ब्रह्म का प्रतिक्षण स्पर्श होता है। यह तो आप स्वीकार ही करेंगे। जब दर्शन, स्पर्शन स्वीकार है तब भाषण अवश्य

मपि स्वीकार्यमेव । हेतुदर्शनात् । उभौ चेतनौ सम्मिलितौ कथन्न परस्परं भाषेयाताम् । यद्यपि मनुष्यवन्नेश्वरस्य भाषणम् । आम्नायानां तथैवोपदेशात् । तथापि विलक्षणमनिर्वचनीयञ्च तत् स्वीकार्यमेव बाधकाभावात् । एतेन दर्शनं स्पर्शनं भाषणं सहनिवासश्चेत्यपि सर्वं सिध्यति । इदानीमेतन्मीमांसनीयम् । दर्शनाद्युपलब्धावपि कथन्न जीवात्मनः कृतकृत्यता ? । एष तु मम प्रश्नः । भवतु तवैव प्रश्नः । शृणु एषा सर्वा वितण्डाकथा । तव भक्तिकथा तु सर्वथा वितण्डैव । यदि नाम जपमात्रेण केवलया शुश्रूषया वा स प्रसीदेत् । तर्हि मुधा मानवी सृष्टिः । तर्हि स इदं कुर्यात् । महतीं सुविस्तीर्णां माद्यन्तपारविहीनां सर्वसुखोपेताम् आत्मसदृशीमेकां सृष्टिं रचयेत् । तत्र न मृत्युर्न रोगो न जरा नाशिशिषा न पिपासा नेर्ष्या न द्वेषो न कलहो जनयितव्यः । किम्बहुना न किमप्यनिष्टं विघ्नोत्पादकं सृजेत् । तत्र मनुष्यसदृशान असंख्येयान् जीवान् सर्वगुणसम्पन्नान् स्थापयित्वाऽऽज्ञापयेत् । जीवाः ! सर्वे यूयं ममैव नाम जपत, ममैव

ही स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि इसमें हेतु भी देखते हैं दोनों ही चेतन सम्मिलित होने पर क्यों नहीं परस्पर संभाषण करेंगे । यद्यपि मनुष्यवत् ईश्वर का भाषण न हो क्योंकि वेदों का वैसा ही उपदेश है । तथापि विलक्षण अनिर्वचनीय भाषण तो स्वीकर्त्तव्य ही है क्योंकि इसमें कोई बाधक नहीं देखते । इससे ईश्वर का दर्शन, स्पर्शन, भाषण, सहनिवास इत्यादि सब ही सिद्ध होता है । यहां अब यह विचारणीय है कि दर्शनादि की प्राप्ति होने पर भी जीवात्मा की कृतकृत्यता क्यों नहीं ? । यह तो मेरा ही प्रश्न है । अच्छा तुम्हारा ही प्रश्न रहे । सुनो-यह सब वितण्डाकथा है । तुम्हारी भक्ति की कथा तो सर्वथा वितण्डा ही है । देखो, यदि केवल नाम जपने से वा शुश्रूषा से वह ईश्वर प्रसन्न होवे तो मनुष्य-सृष्टि करना ही व्यर्थ था । तब इसको ऐसा करना था एक बहुत बड़ी, सुविस्तीर्ण, आद्यन्तपारविहीन, सर्वसुखों से युक्त, बहुत क्या कहें अपने समान सृष्टि बनावे वहां न मृत्यु, न रोग, न जरावस्था, न भोजनेच्छा, न पिपासा, न ईर्ष्या, न द्वेष, न कलह, न कोई विघ्नोपादक अनिष्ट वस्तु बनावे । मनुष्य समान सर्वगुणसम्पन्न असंख्य जीवों को यहां स्थापित कर आज्ञा देवे । हे जीवो ! तुम सब मेरा ही

शुश्रूषा यत्नेन कार्य्या । बुद्धिरपि तादृश्येव दातव्या येन न स्वनियोगात् विर-मेयुः । यतस्तस्यैवाधीनं सर्वमस्ति । इत्थमासनान्यध्यासीनान् जनान् स्वनाम जापयन् शुश्रूषयंश्च स प्रसीदतु । किं मानवसृष्ट्यानया क्षुत्पिपासादिसंयु-क्तया, ईदृशीं सृष्टिमकृत्वा क्षुत्पिपासाज्ञानादिमतीं कृत्वा च किं फलं पश्य-तीश्वरः । एतेन यां त्वं भक्तिं मन्यसे यञ्च नाम जपं याञ्च शुश्रूषाम् । तदर्था नेयं सृष्टिर्नेयं-भक्तिर्नेदं शुश्रूषादि । ईश्वरेणास्माकं या प्रदत्ता बुद्धिरात्म-शक्तिश्च । तस्याः कोप्यपरोऽभिप्रायः । यावती बुद्धिशक्तिरस्ति अस्या गतिरपि च यावद्व्यापिनी वर्तते तदवधौ कार्य्ये सा नियोक्तव्या । यत्नेन तत्पर्य्यन्तं कार्य्यं साधयित्वा सा सफली-कर्तव्या । यदि तां शक्तिं लब्ध्वा कार्ये न परिणमयसि तर्हि पापीयानसीति कः सन्देहः । यथा धनं स्वस्वेतरलोकोपकाराय वर्तते । यदि तद्धनं लब्ध्वा कोऽपि न वर्धयेत्, न च रक्षेत्, न किमपि तेन कुर्यात् प्रत्युत तद्विस्मरेद्वा चौरादिभिरपहारयेद्वा । तर्हि स कथन्न पापीयान् एवमेवेश्वरेण

नाम जपो, मेरी ही शुश्रूषा यत्न पूर्वक करो । उनको बुद्धि भी वैसी ही देवे जिससे कि वे अपने कार्य से विरत न हों क्योंकि उसीके अधीन सब कुछ है । इस प्रकार आसनों के ऊपर बैठे हुए मनुष्यों से अपना नाम जपवाता और शुश्रूषा करवाता हुआ वह प्रसन्न होवे, इस क्षुत्पिपासादि-संयुक्त मानव-सृष्टि से क्या प्रयोजन ? ईश्वर ईदृश सृष्टि न कर क्षुधा-पिपासा-ज्ञानादिमति सृष्टि कर क्या फल देखता है ? इससे प्रतीत होता है कि जिसको तुम भक्ति जप और शुश्रूषा मानते हो तदर्थ यह सृष्टि नहीं है, न यह भक्ति और न यह शुश्रूषा है । ईश्वर ने जो बुद्धि आत्मशक्ति हम लोगों को दी है उसका कुछ अन्य अभिप्राय है । जितनी बुद्धि-शक्ति है और इसकी गति भी जहांतक है वहांतक कार्य्य में इसको लगाना चाहिये । यत्न से वहांतक कार्य साध उसको सफल करे । यदि उस शक्ति को पाकर कार्य में नहीं लगाते हो तो तुम बड़े पापी हो इसमें सन्देह ही क्या ? जैसे धन अपने और अपने से इतर मनुष्यों के उपकार के लिये है । यदि कोई अज्ञानी उस धन को न बढ़ावे न रक्षा करे उससे कुछ भी न करे प्रत्युत धन को भूल जाय वा चोर आदिकों से चोरी करवा दे वा उसके आल-

या शक्तिः प्रदत्ता तामरक्षयित्वा विनाशयेम । कथन्न तर्हि वयं पापभागिनः । कार्ये शक्तेरविनियोग एव शक्तिविनाशनम् । क्रमशः सा हि शक्तिरविनियुक्ता क्षीयते । बालकादिषु शिक्षातारतम्यदर्शनात् ॥

स्ववश चोरी हो जावे तो वह आदमी क्यों नहीं पापी गिना जायगा । इसी प्रकार ईश्वर ने जो शक्ति दी है उसकी रक्षा न करके विनाश कर देवें तो हमलोग क्योंकर पाप के भागी न बनेंगे । कार्य में शक्ति को न लगाना ही शक्ति-विनाश है क्योंकि क्रमशः क्रमशः वह शक्ति अविनियुक्त होजाने से क्षीण होजाती है ।

इसकी परीक्षा इस प्रकार कर सकते हो कि जो बालक तीक्ष्ण बुद्धि है उसको कुछ काल तक मत पढ़ाओ और जो मन्दबुद्धि है उसको यत्न से पढ़ाओ यह मन्दबुद्धि कुछ दिन के अनन्तर अच्छी बुद्धिवाला होजायगा धारणाशक्ति बहुत बढ़ जायगी । परन्तु वह तीक्ष्णबुद्धि बालक मन्द होजायगा, पुनः इसको भी पढ़ाना आरम्भ करो तो कुछ दिन के अनन्तर इसकी बुद्धि पुनः बढ़ती चली जायगी । अभ्यास शक्ति आदि सब गुण बढ़ जायँगे । इतिहास से यह मालूम हुआ है कि एक आध को छोड़कर एक स्थान वा एक देश वा एक द्वीप में प्रायः कुछ दिन तक एकसी बुद्धि रहती है । न्यूनाधिक्य रहती है भी तो बहुत कम । जब इन के ही मध्य में लोकोत्तर बुद्धिवाला मनुष्य उत्पन्न हो अपना सिद्धान्त फैलाता तब पुनः प्रायः सब की बुद्धि तदनुकूल हो जाती, पुनः कोई उससे भी बुद्धिमान् उत्पन्न होता तो इसके अनुकूल लोग चलने लगते हैं । हां ! इतनी बात अवश्य है कि हठ दुराग्रह से भी कोई २ बात स्थिर रहकर पश्चात् बहुत शक्तिसम्पन्न हो जाती है । यहां भारतवर्ष में इसके अनेक उदाहरण हैं । कुछ दिन ऐसा था कि सतीविधि का प्रायः सब ने अनुमोदन किया परन्तु अब हठी दुराग्रही को छोड़ एक बालक भी इसका अनुमोदन नहीं करता, तान्त्रिक धर्म बड़ी प्रबलता से चला, पुनः उसको दबाकर वैष्णवधर्म ने भी निज शक्ति का प्रभाव सब के हृदयपर जमाया । पूर्वकाल में सुना जाता है कि बौद्ध सम्प्रदाय की अद्भुत शक्ति थी परन्तु वह भी यहां से नष्ट होगई, भारत में इसका नाम तक शेष न रहा । इस प्रकार के सहस्रशः उदाहरण दिखला रहे हैं कि यह बुद्धि बढ़ती चली रहती है इस हेतु बुद्धि को यत्नपूर्वक से पूर्णयत्नपूर्वक कार्य्य में

अवश्य लगावे । यहां यह भी जानना चाहिये कि जब २ किसी कारण विशेष से बुद्धि की स्वतन्त्रता के ऊपर महान् प्रहार हुआ है तब ही देश में "अन्धगोलाङ्गूल-न्याय" की प्रवृत्ति हो ऐसी २ क्षति पहुंची कि जिसका वर्णन कदापि नहीं हो सकता है । इस हेतु हे मनुष्यो ! अपनी बुद्धि-शक्ति को जहांतक हो शुभ काम में लगाओ । यही ईश्वर की परमभक्ति है क्योंकि ईश्वर के दिये हुए अस्त्रों को यदि तुम मलीन करदोगे वा किसी काम में न लगाओगे तो क्या ईश्वर इससे अप्रसन्न न होगा ?

इदानीं चिन्त्यतामस्मासु कियती कीदृशी च शक्तिरस्ति । एतदर्थानि कृत-कार्य्याणामाप्तानामुदाहरणान्यादेयानि । मनुष्यत्वेन वयं समास्तर्हि यत्तैः कृतं तत्कथन्न करिष्याम इति विचार्य तस्मिन् प्रवर्तितव्यम् इत्थमवश्यमेव त्वमपि कर्तुं शक्यसि । ननु तारतम्यं विद्यत एव । सत्यमेतत्—प्रागेव स्वप्रवृत्तेस्त्वयै-वेदं "न मम साध्यमिति" कथं प्रत्यक्षीकृतम् । ननु स्वसेनापरिवृतः सम्राड् यत्करोति तत् कुर्वन्न कश्चिद् हालिको दृष्टः । नह्येतदेकस्य कार्य्यम् । त्वमेकोऽसि । एकस्य दृष्टान्तो ग्रहणीयः । यथैकः कणादः परमाणुविद्यामाविश्चकार । तथा त्वमपि कर्तुं समर्थः । राजदृष्टान्तोऽप्येवं समाधातव्यः । अत्रैतिहासिका आहुः—

अब यह चिन्ता करो कि हम लोगों में कितनी और कैसी शक्ति है इसके लिये कृतकार्य्य मनुष्यों के उदाहरण लेवें और विचारें कि मनुष्यत्वेन हम सब बराबर हैं तब एकने जो काम किया उसको हम क्यों नहीं कर सकेंगे, यह विचार उस कार्य में प्रवृत्त होजाय, अवश्य ही तुम भी इसको कर सकोगे । शङ्का—बुद्धि की तारतम्य देखते हैं । उत्तर—सत्य है । परन्तु अपनी प्रवृत्ति से पूर्व ही तुम को यह कैसे प्रत्यक्ष होगया कि यह कार्य्य मुझ से न होगा । प्रश्न—एक सम्राट् अपनी सेना से परिवृत्त हो जो काम करता है उस २ काम को करता हुआ अकिञ्चन हल चलानेहारा कदापि नहीं देखा गया । यदि वह हालिक उस सम्राट् के समान मनोरथ करे तो कैसे हो सकता । उत्तर—यह एक का कार्य्य नहीं । तुम एक ही एक का दृष्टान्त लो । यथा—एक कणादऋषि ने परमाणु विद्या का आविष्कार किया वैसा तुम भी कर सकते हो । राजा का दृष्टान्त जो तुमने दिया है उसका भी इस प्रकार

ज्ञायते पुरा किल न कोऽपि राजाऽभूत् । गच्छत्सु कालेषु बलिष्ठो न्यूनान् बाधितुमारेभे । शनैः शनैः स्वशक्तिं च वर्धयामास । बलाद् बहून् न्यूनबलान् स्वायत्तीकृत्य राज्यं स्थापयामास । पुरा नासीदीदृशं विस्तीर्णराज्यम् । यद्वा, चौरपाटच्चरादि-दुष्टजनैरुपद्रुताः स्वस्वरक्षणेऽसमर्थाः प्रजा एकं नायकं स्थिरीकृत्य तदधीनत्वं स्वीकृत्य रक्षार्थं राज्यवद् व्यवस्थां प्रथमं कृतवत्यः शनैः शनैरस्या ईदृगाकारः संवृत्तः । अतो नैकस्येदं कार्य्यं न चैकवंशयस्य वा । राज्यव्यवस्था समयाधीना परिवर्त्तते । विद्या त्वन्या कथा सैकाधीना । पश्चाच्छनैः शनैः सापि वृद्धिं प्राप्नोति । अतो महतां दृष्टान्तेन कार्य्ये प्रवर्तितव्यमेव । भवन्तु तावत् पदार्थानामानन्त्यादनन्ता विद्याः "सर्वाः विद्या जानीहि सर्वा वा अविदिता विद्याः प्रकाशय" इति क उपदिशति । चेष्टा कर्त्तव्येत्येतावानुपदेशः ।

समाधान होगा । इतिहास से जाना जाता है कि पूर्व में कोई राजा नहीं था । कुछ समय बीतने पर बलिष्ठ पुरुष न्यून पुरुषों को बाधा देने लगे । धीरे २ उसने निज शक्ति को बढ़ाना आरम्भ किया । बलात् न्यून पुरुषों को अपने वश में करके राज्य स्थापित किया पूर्व समय में ऐसा विस्तीर्ण राज्य नहीं था । अथवा जब चोर डाकू आदि दुष्ट जनों से प्रजाएं उपद्रित होने लगीं और अपनी रक्षा करने में असमर्थ हुईं तब एक नायक को स्थिर कर उसकी अधीनता स्वीकार कर रक्षा के लिये राज्य के समान प्रथम व्यवस्था बान्धी । धीरे २ राज्य का आज ऐसा आकार होगया है । इस हेतु यह एक का कार्य्य नहीं और न एक वंशस्थ पुरुष का ही, किन्तु अनेक वंशपरम्परा होते २ आज इसकी यह आकृति है । राज्यव्यवथा समयाधीन परिवर्तित होती रहती है । विद्या तो अन्य कथा है । वह एक के अधीन है । पश्चात् धीरे २ वह भी वृद्धि को प्राप्त होती, इसमें सन्देह नहीं । इस हेतु महान् पुरुषों के दृष्टान्त से कार्य में प्रवृत्ति करनी चाहिये । इस हेतु पदार्थों के अनन्त होने से विद्याएं भी अनन्त होवें । इसकी कोई चिन्ता नहीं । "सब ही विद्याएं जानो । अथवा सब ही अविदित विद्याओं को प्रकाशित करो" यह कौन उपदेश देता है किन्तु चेष्टा करनी चाहिये इतना ही उपदेश दिया जाता है उपदेश

नतु नववेदान्तिभिरिव शुष्ककाष्ठपशुभिर्वा जडैर्वा भाव्यम् । अहो नवीनवेदान्तिनामनिर्वचनीयं मौढ्यम् । तैः कर्मत्यागोऽप्युपदिश्यते । किं तैस्त्यक्तम् ? एतैः पशुमूर्खैरज्ञातविद्यातत्त्वैरन्धीकृता भारतभूमिः । आसतां तावदेतेषामलसानामज्ञानिनाञ्च कथाः प्रकृतमनुसरामः ।

वेदेषु ब्राह्मणेषूपनिषत्सु च समस्ति कापीदृशी शिक्षा ? येदानीमिव केवलं नामजापं त्वदीयां भक्तिञ्च दर्शयेत् । नह्येतत्सदृशं क्वापि तत्त्वपारदृश्वभिर्ऋषिभिराचरितम् । चातुराश्रम्ये कर्म्म स्वाध्यायप्रवचनपरिपाटी समवर्ततरामिति प्रागवोचाम । अस्माकं प्राञ्च आचार्य्याः पदार्थविज्ञानेनैव निःश्रेयसं मन्यन्ते स्म ।

तद्यथा—"धर्म-विशेष-प्रसूताद् द्रव्यगुणकर्म-सामान्यविशेष-समवायानां पदार्थानां साधर्म्य वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥ ४ ॥ पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं-कालो-दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ॥ ५ ॥ रूपरसगन्धस्पर्शाः

यहां यह दिया जाता है कि नवीन वेदान्तियों के समान शुष्ककाष्ठ वा पशु वा जड़ मत होवो । आश्चर्य ! नवीन वेदान्तियों का मौढ्य भी अनिर्वचनीय है । वे नवीन वेदान्ती सर्वकर्म त्याग के लिये उपदेश देते हैं । उन्होंने स्वयं क्या त्यागा ! ये पशु और मूर्ख हैं जिन्होंने विद्याओं के तत्त्वों को न जाना इस भारतवर्ष को अन्ध बना दिया है । इन आलसी अज्ञानियों की कथाओं को यहां ही रहने दो हम लोग अपने विषय का अनुसरण करें ।

वेदों में, ब्राह्मणों में, उपनिषदों में कोई भी ऐसी शिक्षा है ? जो केवल नामजप और तुम्हारी भक्ति को बतलावे । ऐसे ऐसे कार्य्यों को कहींभी तत्त्वपारद्रष्टा ऋषियों ने कभी नहीं किया है । चारों आश्रमों में कर्म्म, स्वाध्याय और प्रवचन की ही अधिक परिपाटी थी इसको प्रथम हम कह चुके हैं, ज्ञानोपार्जन ही परमभक्ति मानी जाती थी भृगु आदिक के उदाहरण से विदित होता है । यह भी देखो:—

हम लोगों के प्राचीन आचार्य्य पदार्थों के विज्ञान से ही निःश्रेयस मानते थे । यथा—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय ये छः पदार्थ वैशेषिक के हैं । इनही पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस होता है । यह महर्षि कणाद कहते हैं । पृथिवी अप, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नव द्रव्य हैं । रूप,

सङ्ख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोग-विभागौ-परत्वापरत्वे-बुद्धिः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ॥ ६ ॥ उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि" ॥ ७ ॥ वैशेषिक द० अ० १ । आ० १ ॥

इत्यादि सूत्रजातं सूत्रयन्तो भगवन्तः कणादाः पृथिव्यादिपदार्थसमुदायतत्त्वविज्ञानादेव निःश्रेयसपथमुपदिशन्ति ।

एवमेव—"प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ॥ १ ॥ प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ॥ ३ ॥ आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः-प्रवृत्तिदोष-प्रेत्याभाव । फलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ॥ ९ ॥ पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि ॥ १३ ॥ गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः

रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये गुण हैं । उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण, गमन ये पांच कर्म हैं ।

इत्यादि सूत्रों को रचते हुए भगवान् कणाद महर्षि पृथिवी आदि पदार्थ-समुदाय के विज्ञान से ही मुक्ति होती है यह उपदेश देते हैं । यदि केवल नाम जपने से वा तुम्हारी भक्ति से ही कल्याण होता तो क्या कणाद ऋषि लोकशत्रु थे कि जिन्होंने इस महान् ग्रन्थ को बनाकर पढ़ने का भार सबों पर डाला है ।

इसी प्रकार—प्रमाण १ प्रमेय २ संशय ३ प्रयोजन ४ दृष्टान्त ५ सिद्धान्त ६ अवयव ७ तर्क ८ निर्णय ९ वाद १० जल्प ११ वितण्डा १२ हेत्वाभास १३ छल १४ जाति १५ निग्रहस्थान १६ इन षोडश पदार्थों के ज्ञान से अपवर्ग की प्राप्ति होती है ॥ १ ॥ प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण हैं ॥ ३ ॥ आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग ये प्रमेय हैं ॥ ९ ॥ पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाश ये पांच भूत हैं ॥ १३ ॥ गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द ये पृथिवी आदिक के गुण हैं । इत्यादि सूत्रों से भगवान् गौतम भी पदार्थ ज्ञान को ही मोक्षसाधन कहते हैं ।

पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः" इत्यादिभिः सूत्रैर्भगवान् गौतमोऽपि पदार्थज्ञानमेवा-पवर्गसाधनमुपदिशति ।

सम्प्रति कापिलं सांख्यमधीष्व । प्रकृति-पुरुष-विज्ञानमन्तरा न तत्रापवर्गस्याशालेशोऽपि क्वापि ध्वनितः सम्पूर्णं दृश्यमदृश्यं सूर्यादिसहितं ब्रह्माण्डपदवाच्यं यत्किमपि वर्तते । तत्सर्वं प्रकृतिकार्यम् । अत्र कार्य्यावबोधेनैव प्रकृतिबोधः । तस्मिन् सति प्रकृतिस्तं पुरुषं जहाति । ततो मुक्तिः । तत्रेमाः कारिका भवन्ति ।

दृष्टवदानुश्रविकः सह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः । तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ता-व्यक्तज्ञ-विज्ञानात् ॥२॥ रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् । पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य निवर्तते प्रकृतिः ॥ ५९ ॥ प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिद-स्तीति मे मतिर्भवति । या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ ६१ ॥ रूपैः

अब कापिल सांख्य शास्त्र को देखो । प्रकृति और पुरुष के विज्ञान के विना उस शास्त्र में कहीं भी मुक्ति का लेश ध्वनित नहीं हुआ है । सम्पूर्ण दृश्य, अदृश्य, सूर्यादि सहित, ब्रह्माण्डपदवाच्य जो कुछ है वह सब ही प्रधान का कार्य्य है । कार्य्य के बोध से ही प्रकृति का बोध कहा गया है । जब ऐसा बोध उत्पन्न होता है तब प्रकृतिरूपा स्त्री पुरुष को छोड़ देती है तब मुक्ति होती है । इस विषय में इन कारिकाओं को देखो—

(दृष्टवद्—आनुश्रविकः) दृष्ट उपायों के समान ही धर्म्म शास्त्रोपाय भी हैं (हि) क्योंकि (अविशुद्धि०) वे धर्मशास्त्रोपाय भी अशुद्ध, क्षयशील और अतिशय युक्त है, इस हेतु इसके विपरीत (व्यक्त) प्रकृति का कार्य=यह सम्पूर्ण जगत् (अव्यक्त) स्वयं प्रकृति और (ज्ञ) आत्मा इन तीनों का विज्ञान ही मुक्तिसाधक है ॥ १ ॥ (रङ्गस्य०) जैसे नर्तकी नृत्य देखनेहारों को सम्पूर्ण लीला दिखला कर नृत्य से निवृत्त हो जाती है वैसे ही यह प्रकृति जीवात्मा को अपनी आकृति दिखला कर लौट जाती है ॥ ५९ ॥ (प्रकृतेः०) मैं समझता हूं कि प्रकृति से बढ़-कर कोई भी सुकुमार नहीं है । क्योंकि जब प्रकृति एकवार भी यह देखलेती है कि मुझ को इस पुरुष ने देख लिया तब पुनः उस पुरुष के सामने कदापि भी

सप्तभिरेव बध्नात्यात्मान मात्मना प्रकृतिः । सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येक रूपेण ॥ ६३ ॥

विचारय ! नहि मानुषीव प्रकृतिःकापियुवती सुन्दरी मनोरमास्ति । या स्वेन सौन्दर्येण कमपि रक्तं बध्नीयात्, न चेयं कापि राजवधूरसूर्य्यपश्यास्ति या परेण पुरुषेण दृष्टास्मीति तस्मात्त्रपेत । पुनश्चात्मानं न दर्शयेत् कदापि । किन्तु जीवात्मानं वर्जयित्वा सम्पूर्णेयं सृष्टिरेव प्रकृतिः । यथा—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः ॥ ६१ ॥ सांख्य० अध्याय १ ॥

इदानीमनुमातुं शक्नोषि-व्यक्ताव्यक्तज्ञ-विज्ञानान्मुक्तिमुपदिशता माचार्य्याणां कोवाऽऽशयः । व्यक्तस्य प्रकृतिकार्यस्य विज्ञाने कियन्ति वर्षाणि व्यत्येष्यन्ति ।

नहीं होती ॥ ६१ ॥ वह प्रकृति सात रूपों से जीवात्मा को बांधती है और एक रूप से वही इसको छुड़ाती है ॥ ६३ ॥

अब यहां विचार करो कि प्रकृति, मानुषी के सामान युवती, सुन्दरी, मनोरमा स्त्री तो नहीं है, जो स्वकीय सौन्दर्य से किसी रक्त पुरुष को बान्धेगी, न यह कोई राजा की स्त्री के समान असूर्यपश्या (जो सूर्य को भी नहीं देखती है) स्त्री है जो परपुरुष से मैं देखी गई हूं इस हेतु उससे बराबर लजाती रहे, पुनः अपने शरीर को कदापि नहीं दिखलावे तो प्रकृति क्या है ? । देखो जीवात्मा को छोड़ यह सम्पूर्ण सृष्टि ही प्रकृति है, क्योंकि सूत्र में कहा गया है कि "सत्त्व, रज, तम इन तीनों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है । प्रकृति से महान्, महान् से अहङ्कार, अहङ्कार से पञ्चतन्मात्रा और कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय । तन्मात्रा से पञ्चस्थूलभूत होते हैं । इससे महान् से लेकर पृथिवी पर्यन्त प्रकृति के कार्य्य हैं । इत्यादि शास्त्रों से सिद्ध होता है कि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का नाम ही प्रकृति है । इससे कोई भिन्न प्रकृति नहीं । अब आप अनुमान कर सकते हैं कि व्यक्त अव्यक्त और पुरुष के विज्ञान से मुक्ति होती है यह उपदेश करते हुए आचार्य्य का क्या आशय हो सकता है ? प्रकृति कार्य्य जो व्यक्त है उसके विज्ञान

तथापि किं तस्याशेषस्य निःशेषतया सम्यग्ज्ञानं कदापि भवितुमर्हति । कार्य्यजातस्यानन्त्यात् । आचार्य्यास्तु तज्ज्ञानान्मुक्तिं शासति । एतेन प्रकृतिविज्ञाने रुचिमन्तो जना भवन्त्विति प्ररोचनायैव शास्त्रं प्रणीतम् ।

योगशास्त्रन्तु सांख्यमेवानुकरोति । यावदायुषं यज्ञानुष्ठानं शास्ति मीमांसा । तच्चाशेषाणां वेदानां शतपथादि-ब्राह्मणानामङ्गानामुपाङ्गानाञ्चाध्ययनाद् विना न संभवति । वेदादयस्तु ईश्वरीय-विभूत्य-परनाम्नीं प्रकृतिमेव पदे पदे स्तुवन्ति । अयमग्निः । एष सूर्यः । अयं वायुः । एते ग्रहाः । एत उपग्रहाः । इत्यादि नामनिर्देशेन । एवं यज्ञानुष्ठानच्छलेन विविधाः प्रकृतिविकारा एव अध्याप्यन्ते । ब्रह्ममीमांसा तु सर्वासामुपनिषदां समन्वयकरणे स्वकीयामाकृतिमियतीं विस्तीर्णां करोति यां परिरब्धुं सहस्रेषु लक्षेषु वा कश्चिदेवार्हः । यदि नाम जपादिभिरेव ब्रह्म प्राप्तुं शक्यं तर्हि मुधैव कृष्णद्वैपायनश्चतुरध्यायीं प्रणिनाय । अन्येच स्वंस्वमीदृशं शास्त्रम् ।

निमित्त कितने वर्ष व्यतीत होवेंगे । तथापि क्या सम्पूर्ण व्यक्त का सम्पूर्णतया सम्यक् ज्ञान कदापि हो सकता है ? क्योंकि ये कार्य्यसमूह अनन्त हैं, परन्तु आचार्य्य इसके ज्ञान से ही मुक्ति कहते हैं, इससे विस्पष्ट है कि प्रकृति के विज्ञान में मनुष्य रुचिमान् होवे इसी प्ररोचनार्थ शास्त्र रचा है ।

योगशास्त्र सांख्य का ही अनुकरण करता है । मीमांसा सम्पूर्ण आयु यज्ञानुष्ठान की ही शिक्षा देती है । वह अनुष्ठान सब वेदों के, सब ऐतरेय शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थों के तथा अङ्ग उपाङ्गों के अध्ययन विना कदापि नहीं हो सकता । वेदादि सब शास्त्र ईश्वरीय विभूति की दूसरी नामवाली प्रकृति की ही पद पद में स्तुति करती है । यह अग्नि, यह सूर्य, यह वायु, यह ग्रह, ये उपग्रह हैं । इस प्रकार यज्ञानुष्ठान के छल से विविधप्रकृति–विकार ही पढ़ाये जाते हैं । ब्रह्ममीमांसा (वेदान्त) तो सब उपनिषदों के समन्वय करने के निमित्त अपनी आकृति को इतनी विस्तीर्ण करती है कि जिसको पाने के लिये सहस्रों लाखों में कोई एक ही समर्थ हो सकता है, यदि नाम के जपादि से ब्रह्म-प्राप्ति हो सकती थी तो व्यर्थ ही कृष्ण द्वैपायन आदिक आचार्य्यों ने ऐसा २ शास्त्र रचा ॥

अत्र तु न सन्देहस्तत्त्वविज्ञानायैव यमादयो धर्माः सेव्यत्वेनोपदिष्टाः । नहि तत्त्वविज्ञाननिरपेक्षाः क्वचिदपि यमादयः साध्यत्वेनोक्ताः । अतो ब्रूम-ईश्वर-विभूत्यध्ययनायैव मानवी सृष्टिरिति । यथा यथा मनुष्येषु तत्त्वविज्ञानं वर्धिष्यते तथा तथा मिथ्याज्ञाननिवृत्तेः सुखमपि प्रसरिष्यति । तदैकान्तमत्यन्तञ्चापवर्गं लप्स्यन्ते मनुष्या इत्यत्र किमिहास्ति बहु वक्तव्यम् । एतावदेव पर्य्याप्तं यत् "ज्ञानान्मुक्तिः" इत्यस्माकमाचार्याणां सिद्धान्तो भूयो भूयो मीमांसनीयः ।

पुनः शङ्कते-योऽयमीश्वरो द्यावापृथिव्यौ जनयन् मातापितृशतेभ्योऽप्यधिकतर-वात्सल्यशाली निखिलप्रयोजनविद् बुद्धेरपिबुद्धिप्रदोऽस्ति । स किमुद्दिश्येमां विलक्षणां मानवीं सृष्टिं विदधाति । अस्ति काचिदीदृशी मनुष्येषु शक्तिर्यया परमगहनं वादिप्रतिवाद्युत्थापितविप्रतिपत्तिभयङ्करमपि यदज्ञानेन खिलीकृताखिलमानुषप्रयत्नम् अतएवोत्तरोत्तरकल्याणाय परः सहस्रैरप्यायासैरवश्यापेक्षितबोधं पर्य्यनु-

---

इसमें सन्देह नहीं कि तत्त्वविज्ञान के लिये ही यम आदि धर्म सेव्यत्वेन उपदिष्ट हुए हैं । तत्त्वविज्ञान रहित यमादिक की साधना कहीं नहीं कही हुई है । इस हेतु हम कहते हैं कि ईश्वर की विभूति के अध्ययन के लिये मानवी सृष्टि हुई है । जैसे २ मनुष्यों में तत्त्वज्ञान बढ़ेगा वैसे २ मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति होगी और उससे सुख भी फैलेगा । तब ही एकान्त और अत्यन्त अपवर्ग (मुक्ति) को मनुष्य पावेंगे इसमें बहुत क्या कहना है । इतना ही कहना बहुत है कि—"ज्ञानान्मुक्तिः" जो यह हम लोगों के आचार्य्यों का सिद्धान्त है उसको बारंवार मनन करो ।

शङ्का—जो यह ईश्वर, द्युलोक और पृथिवी को उत्पन्न करता हुआ, शतशः माता पिताओं से भी अधिकतर वात्सल्यशाली, समस्त प्रयोजनों को जाननेहारा बुद्धि को भी सुबुद्धिप्रद है । वह किस उद्देश से इस विलक्षण मानव सृष्टि को करता है ? क्या मनुष्यों में कोई ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा इस परम-गहन प्रश्न को निश्चित करने में हम लोग समर्थ होवें क्योंकि यह प्रश्न वादी और प्रतिवादी दोनों के उठाए हुए विविध सन्देहों से अति भयङ्कर होरहा है । भयङ्कर होने पर भी जिसके न जानने से मनुष्यों के अखिल प्रयत्न व्यर्थीभूत होगये हैं । इस हेतु उत्तरोत्तर

योगमवधारयितुं पारयाम । अस्तीति समाधानम् । यदि प्रतिपक्षविहीनाः प्रेक्षावन्तो जनाः परीक्षका ब्रह्मणि मनःस माधाय तन्महिमसु आब्रह्मस्तम्भोच्चावचेषु पदार्थेषु गभीरां सात्त्विकीं विज्ञानदृष्टिं प्रक्षिपन्त एतदर्थं कालं क्षपयेयुस्तर्हि किन्नामदुष्करं विचक्षणानां पञ्चजनानाम् । दृश्यते आकिञ्चिदुद्बोधोदयाद् मानवार्भकः खलु स्वपरितऊर्ध्वमधश्च स्थितान् नूतनान् नूतनान् पार्थिवान् प्राच्यामुद्यन्तं भास्करं, नक्तं, गगनस्थं, चन्द्रमण्डलं, नक्षत्रचक्रं, द्युलोकस्थान्, उत समीपतरचारिणः सारमेयवायसादीन् पदार्थान् दर्शं दर्शं किमिदं किमिदं मातर्भण मे सर्वमिति पृच्छन् जिज्ञासावान हरहो दृश्यते । दृष्ट्वा चेमान् चकितो भवति तत्तत्पदार्थज्ञानाय लालसावानुत्सुकतरश्च जायते । रात्रिन्दिवं बालचरितानि पश्य ।

कल्याण के वास्ते हज़ारों परिश्रमों से भी जिसका बोध अवश्य ही अपेक्षित है इसके उत्तर में कहा जाता है कि है । अर्थात् मनुष्य में वह शक्ति है । यदि प्रतिपक्ष विहीन प्रेक्षावान् (१) जन परीक्षक होके ब्रह्म में मन समाहित कर उसकी महिमा जो ब्राह्मण से लेकर स्तम्भ (घास) पर्य्यन्त ऊंच नीच पदार्थ हैं उनपर गम्भीर सात्त्विक विज्ञान दृष्टि को फेंक देते हुए इसके लिये काल को बितावें तो विचक्षण मनुष्यों के लिये क्या दुष्कर है । देखते हैं जब ही किञ्चित् बोध का उदय होता है तब से ही मनुष्यबालक अपने चारों तरफ़ ऊपर और नीचे स्थित क्या नवीन पृथिवीस्थ पदार्थ, क्या पूर्व दिशा में उगता हुआ सूर्य, क्या रात्रि में गगनस्थ चन्द्र-मण्डल, नक्षत्र समूह द्युलोकस्थ पदार्थों को, क्या अति समीप में विचरण करनेहारे कुत्ते, कौवे आदि पदार्थों को देख २ कर यह क्या है, यह क्या है, मा मुझको सब कहो, इस प्रकार पूछता हुआ दिन २ जिज्ञासावान् दीख पड़ता है । इन सबों को देख २ कर बड़ा ही चकित होता है । उस २ पदार्थ को जानने को लालसावान् और अति उत्सुक होता । आप लोग रात दिन बालचरितों को देखो उससे

---

(१) यस्या-मुत्पद्यमानायामविद्या नाश महति । विवेककारिणी बुद्धिः सा प्रेक्षेत्यभिधीयते । जिसकी उत्पत्ति होने से अविद्या नाश को प्राप्त होती है । ऐसी जो विवेककारिणी बुद्धि है उसे प्रेक्षा कहते हैं ॥

तेन ज्ञास्यसि-इयं मानवी सृष्टिर्बलवत्तरविजिज्ञासावती वर्त्तत इति । विजिज्ञासाखलु पदार्थानां विशेषतया ज्ञातुमिच्छा । दृश्यते च तेन विजिज्ञासाबलेन स्वौत्सुक्य निवृत्तये मनुष्यैः यथायथं विदितान्यपि भूरीणि गूढानि पदार्थतत्त्वानि । एतेन विजिज्ञासार्थवतीति न सन्देहः । अतोऽनुमन्यामहे किमपि विज्ञातुमेवेयं विशेषेण मानुषी सृष्टिः। जिज्ञासायामेव प्रवर्त्तयितुं मानवजातिः सृष्टा परमात्मनेति सिद्ध्यति अत्र ईश्वरीयवाक्यानां तज्ज्ञानां महर्षीणां प्रवृत्तेश्च प्रामाण्यम् । यदुभयम-त-रा केवलैः शुष्कतर्कवादैर्न किमप्यस्माभिः प्रतिष्ठापयितुं शक्यम् । तत्र तत्र वेदेषु तु "त मेव विदित्वाति मृत्युमेति" इत्यादिषु स्ववचनेषु ज्ञानार्थक विद्यादि धातुप्रयोगैः पदार्थानां वेद्यत्वं मनुष्याणां वेत्तृत्वञ्च सम्यगनुशास्ति भगवान् कारुणिकः । ऋषयोऽपि स्वस्वप्रवृत्या "य एवं वेद य एवं वेदेत्यादीन्

आप जानोगे कि यह मानवी सृष्टि बड़ी ही विजिज्ञासावती है । पदार्थों को विशेष पूर्वक जानने की इच्छा का नाम ही विजिज्ञासा है । इस जाज्वल्यमाना और महती इच्छा से यह अधिकतर युक्त है और यह भी देखते हैं कि उस जिज्ञासा के बल से अपनी उत्सुकता की निवृत्ति के हेतु मनुष्यों ने जिस किसी प्रकार से बहुत कुछ पदार्थों के गूढ़ तत्त्वों को जान भी लिया है । इससे विजिज्ञासा अर्थवती है यह सिद्ध होता अर्थात् जिज्ञासा व्यर्थ नहीं है । इससे हम अनुमान करते हैं कि कुछ न कुछ जानने के लिये ही विशेष कर मनुष्यसृष्टि है । इससे सिद्ध होता है कि जिज्ञासा में प्रवृत्त करवाने के लिये ही ईश्वर ने मनुष्य की सृष्टि की है यहां प्रथम ईश्वरीय वाक्यों का और तत्पश्चात् उनके जाननेहारे महर्षियों की प्रवृत्ति का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं । जिन दोनों के विना केवल शुष्क तर्कवादों से कुछ भी हम लोग प्रतिष्ठापित नहीं कर सकते । वहां २ वेदों में तो ज्ञानार्थक "विद्" आदि धातुओं के प्रयोगों से कारुणिक भगवान् अच्छे प्रकार सिखलाता है कि पदार्थ अवश्य वेद्य अर्थात् जानने योग्य है और मनुष्य वेत्ता अर्थात् जाननेहारे हैं । ऋषि लोग भी अपनी अपनी प्रवृत्ति से और अपने ग्रन्थों में पद २ पर "य एवं वेद, य एवं वेद" जो ऐसा जानता है जो ऐसा जानता है इस प्रकार के बहुत २ प्रयोगों का

भूरि-भूरि-प्रयोगांश्च विदधतस्तमेवार्थमनूद्य भगवन्निदेशं प्रमाणीकुर्वन्ति। तद्यथा-

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान् न वि चेतदन्धः। कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत्। ऋ० १। १६४। १६॥

करते हुए उसी वैदिक अर्थों का अनुवाद कर भगवान् की आज्ञा को प्रामाणिक करते हैं। अब प्रथम वेदों के प्रमाण कहते हैं॥

"स्त्रियः" इस मन्त्र में "ज्ञा" धातु और। "य ईं चकार" "प्रतद्वोचेद्"। "न तं विदाथ"। "यो विद्यात्"। "पुण्डरीकम्" "अकामः"। "यत्र देवाः"। इत्यादिक मन्त्रों में "विद्" धातु के प्रयोग विद्यमान हैं। इत्यादि अनेक स्ववचनों में स्वयं भगवान् भूतभावन परमपिता "विद" धातु और तदर्थक धातुओं के प्रयोगों से परममाननीय और शाश्वती इच्छा का प्रकाश करते हैं कि पदार्थ विज्ञान के लिये ही मनुष्यों को मैं रचता हूं। यदि यह आशय नहीं होता है तो जानने से मनुष्यों को कल्याण होगा ऐसी शिक्षा वेदों में नहीं देते। इससे मालूम होता है कि जानने के लिये ही मनुष्य सृष्टि है। आगे संक्षेप से उक्त मन्त्रों का अर्थ करते हैं।

ईश्वर कहता है (मे) मेरी (सतीः) सर्वदा रहनेहारी नित्य अविनश्वर (स्त्रियः) जो ये विस्तीर्ण विविध शक्तियां हैं। यद्यपि ये शक्तियां स्त्रीस्वरूपा हैं तथापि (तान्+ऊ+इति) उन को ही विद्वान् लोग (पुंसः+आहुः) पुरुष कहते हैं। इसको (अक्षण्वान्+पश्यत्) ज्ञानी पुरुष देखते अर्थात् जान सकते (न+वि+चेद्+अन्धः) परन्तु जो ज्ञानरूप नेत्र से रहित हैं वे नहीं देख सकते किन्तु (यः+पुत्रः) जो मेरा पुत्र अधिकारी (कविः) पदार्थ तत्त्ववित् है (सः ईं+आचिकेत) यही जानने में समर्थ हुआ है। हे मनुष्यो! (यः) तुम लोगों में जो (ता) उन सम्पूर्ण पदार्थों को (विजानात्) विशेष रीति से जानता है (सः) वह (पितुः) पिता का भी (पिता) पिता (असत्) होता है। अर्थात् पुत्र पौत्रादि सहित चिरकाल जीवित रहके परम ख्याति को प्राप्त होता है। यहां यह विविध सृष्टियां मानो स्त्रियां हैं क्योंकि स्त्रीवत् ये विविध पदार्थों को प्रतिदिन उत्पन्न कर रही हैं परन्तु इनको हम लोग पुरुष कहते हैं। अर्थात् ईश्वरीय सृष्टि में प्रत्येक पदार्थ में स्त्रीत्व और पुंस्त्व दोनों शक्तिएं विद्यमान हैं। इसको केवल ज्ञानी जानते हैं अन्य नहीं। (यः+ईं+चकार) जो ही

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् । स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश । ऋ० १ । १६४ । ३२ ॥ "प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहासत् । त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पिताऽसत् ।" यजुः० ३२ । ९ ॥ " न तं विदाथ य इमा जजान । य० १७ । ३१ ।" यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः । सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मणं महत् ॥ अथर्व० १० । ८ । ३७ ॥ पुण्डरीकं नवद्वारं

पुरुष इस प्राणी को पुत्रादि रूप से उत्पन्न करता है (सः) वही पिता (अस्य) इस पुत्र के विषय में (न+वेद) कुछ भी नहीं जानता । यद्यपि पिता पुत्र को उत्पन्न करता है परन्तु वह उसके विषय में कुछ भी नहीं जान सकता तथापि (तस्मात्) उस पुरुष से (हिरुक्+इत्) वह परमात्मा से अन्तर्हित ही है । अर्थात् छिपा हुआ ही है (सः) वह परमात्मा के ज्ञानरहित (मातुर्योनौ+अन्तः) मातृगर्भ में (परिवीतः) वारंवार परिवेष्टित हो (बहुप्रजाः) अनेक जन्म ग्रहण करता= बहुत पुत्र पौत्रादिक उत्पन्न करता हुआ (नैर्ऋतिम्+आविवेश) केवल दुःख को ही पाता रहता है । (गन्धर्वः) जो वेद वाणी का धारण करनेहारा (विद्वान्) पंडित (नु) शीघ्र (तत्+अमृतम्) उस अमृत परमात्मा का (प्रवोचेत्) व्याख्यान कर सकता है । जो परमात्मा (गुहा) गुप्त स्थान में (सत्) विद्यमान (धाम) स्थान है (विभृतम्) स्थित है । अर्थात् अत्यन्त गोपनीय स्थान में रहता है अर्थात् अज्ञेय (अस्य) इस परमात्मा के (त्रीणि पदानि) तीन स्थान तो (गुहा निहितानि) गुप्तस्थान में छिपे हुए हैं (यः) जो विद्वान् (तानि) उनको (वेद) जानता है (सः) वह (पितुः पिता+असत्) पिता का पिता होता है । (न तं विदाथ०) हे मनुष्यो ! उसको तुम नहीं जानते हो जिसने इसको बनाया । (यः) जो (विततम्) विस्तीर्ण (सूत्रम्) सूत्र को (विद्यात्) जानता है (यस्मिन्+इमाः+प्रजाः+ओताः) जिसमें ये समस्त प्रजाएं ग्रथित हैं और (सूत्रस्य+सूत्रम्) इस सूत्र के सूत्र को भी (यः+विद्यात्) जो जानता है (सः) वह (ब्राह्मणम्+महत्) महान् ब्रह्म तेज को जान सकता है । (पुण्डरीकम्) नवद्वार सहित त्रिगुणों से संयुक्त

त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् । तस्मिन्यत् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदोविदुः ॥ अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः । तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥ अ० १०। ८। ४४॥ यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठ मुपासते । यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात् । इत्याद्यनेकेषु स्ववचनेषु स्वयमेव भगवान् भूतभावनः परमर्षिर्विदि तदर्थकधातुप्रयोगैः "पदार्थविज्ञानायैव मनुष्यान् सृजामीति" परममाननीयां शाश्वतीं समीहां प्रकटयति । महर्षीणां प्रवृत्तिं पश्यत । "भृगुर्वैवारुणिः । वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तस्मा एतत्प्रोवाच । अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनोवाचम्"। तैत्तिरीये। "अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः । तं होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति ॥" छा० ७। १ ॥ "श्वेतकेतुहारुणेय आस। तं ह पितोवाच श्वेतकेतो! वस ब्रह्मचर्य्यं । न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य

जो यह शरीररूप कमल है (तस्मिन्) उस शरीर में परमात्मा सहित जो जीवात्मा है उसी को बड़ा विद्वान् लोग समझते हैं ।

(अकामः०) अकाम, धीर, अमृत, स्वयम्भू, सदातृप्त, निर्भय जो परमात्मा है उसको जानता हुआ पुरुष पुनः मृत्यु से नहीं डरता है । (यत्र देवाः०) जहां ब्रह्मविद् पुरुष ब्रह्म की उपासना कर रहे हैं उनको जो जानता है वही विज्ञानी ब्रह्मा है । इत्यादि वेदों में बहुत मन्त्र हैं जिनमें विस्पष्टरूप से कहा हुआ है कि विना पदार्थों के ज्ञान से मनुष्यों का कल्याण नहीं हो सकता । अब ऋषियों की प्रवृत्ति देखोः—वरुण पुत्र भृगु अपने पिता वरुण के निकट गये और बोले हे भगवन् ! मुझ को ब्रह्म के विषय में पढ़ाइये । भृगु से वरुण बोले, इस प्रकार उपदेश दियाः— अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, वचन इत्यादि ।

नारद सनत्कुमार के निकट विद्याध्ययन के लिये गये । नारद से सनत्कुमार बोले हे नारद ! आप जितने जानते हैं उन सबों को प्रथम सुनाओ । उसके आगे आपको मैं उपदेश दूंगा । अरुणपुत्र श्वेतकेतु किसी समय में कहीं हुए । पिता ने उन से कहा कि हे पुत्र श्वेतकेतो ! ब्रह्मचर्य करो । मेरे कुल में कोई

ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति। स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंशतिवर्षः सर्वान् वेदानधीत्य"' "स्वाध्याय"। "ऋतञ्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यञ्च स्वाध्यायप्रवचने च। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृमान् पितृमान् आचार्य्यवान् पुरुषो वेद ॥"

अन्यच्च-इतरेषां पशु-विहग-सर्प-सरीसृपादीनां निसर्गत एव स्वजीवनोपयोगिशिक्षाबोधाश्च जायन्ते। स्वस्वजातिजाः कठिना अपि विद्याःस्वभावेनैव विना प्रयासेन जन्मत एवोपलभ्यन्ते नैतन्मनुष्येषु कचिद्दृष्टम्। नहि कोऽपि प्लवङ्गशिशून् वृक्षप्लुतिं शिक्षते। नहि विहगान् तालपत्रावलम्बिनो लघून् सुन्दरान् गृहान् निर्मातुं कोप्यध्यापयति। मत्स्या जन्मत एव जलेषु तरन्ति। भ्रमरा केन नैपुण्येन सरघां विदधति। एवमधीयन्तामितरेषां स्वभावाः। किन्तु

अननूचान (वेद के न जाननेवाले) नहीं होते। वह श्वेतकेतु १२ वर्ष की अवस्था में आचार्य्य के यहां जाकर २४ वर्ष की अवस्था तक सारी विद्या अध्ययन करते रहे। तत्पश्चात् गृह पर लौट आये। हे ब्रह्मचारियो! सत्यता धारण करो और इस के साथ पढ़ो और पढ़ाओ। सत्य पदार्थ को जानो और इसके साथ स्वाध्याय (निज पठन) प्रवचन (दूसरों को पढ़ाना) भी किया करो। स्वाध्याय से प्रमाद मत करो। स्वाध्याय प्रवचन से प्रमाद कदापि नहीं करना चाहिये। मातृमान् पितृमान् और आचार्यवान् पुरुष जानता है।

इत्यादि ऋषि महर्षि मुनि महामुनियों की प्रवृत्ति से भी विदित होता है कि कुछ जानने के लिये ही यह मनुष्य सृष्टि है। और भी, पशु, विहग, सर्प, सरीसृप इत्यादि मनुष्यों से भिन्न जीवों को स्वभाव से ही निज जीवन के उपयोगी शिक्षा और बोध उत्पन्न होजाते हैं। स्वस्वजाति की कठिन भी विद्याएं स्वभाव से ही विना प्रयास के ही उनको जन्मते ही प्राप्त होजाती हैं। परन्तु मनुष्यों में ऐसा कहीं नहीं देखा गया। वानरों के बच्चों को वृक्ष पर कूदना कोई नहीं सिखलाता है। तालवृक्षों के पत्रावलम्बी छोटे छोटे सुन्दर गृहों को बनाने के लिये पक्षियों को कौन पढ़ाता है। मछलियां जन्म से ही पानी में तैरने लगती हैं। भ्रमर किस निपुणता के साथ मधुछत्ते को बनाते हैं।

नाध्ययनेन विना विदुषां तनया विद्वांसो भवितुमर्हन्ति । मातृतःपितृत आगच्छन्ति बहवो गुणाः । परन्तु विद्यासम्बन्धिवार्तास्ते यदि च न जानीयुस्तर्ह्येतेषामितरजीववन्निर्वाहोऽपि दुष्कर एव । किं बहुना, यथायथेस्मिन् विवेचयन्ति तथातथेदं वेदिष्यन्ति भवन्तः । पदार्थानां तत्त्वज्ञानायैवेयं मानवी सृष्टिरिति। सम्पूर्णेयं बृहदारण्यकोपनिषत्प्रधानतया शिक्षते । तदिहोपरिष्टात् यथायथं व्याख्यास्यामः । ग्रन्थविस्तरभयान्न कमप्यर्थं विस्तारयिष्यामः । संक्षिप्यैव प्रकटित आशयो बहुधा बुद्ध्या विधातव्यः । तच्च पदार्थतत्त्वविज्ञानमध्यवसायं विना नहि कदापि मनुष्य उपलब्धुमर्हः स हीदृग् विजिज्ञासावानपि भूत्वा अलसोभवतीत्याश्चर्यम् । यदा ईषत्प्रयोजनवन्तोऽप्यन्ये जीवाः एकं क्षणमपि प्रयत्नशून्य-मालस्ययुतं कुर्वन्तो न दृश्यन्ते ।

एवं बुद्धिमन्तोऽपि वेदैरनुगृहीता अपि पृथिवीस्थाऽशेष जीवेभ्यो भूयांसोऽपि उपायैरखिलं दुःखमुपशमयितुं शक्ता अपि यद्दुःखमेवाद्यावधि भुञ्जन्ति मानवाः ।

इस प्रकार अन्य जीवों के स्वभावों को पढ़ो । परन्तु विद्वानों का पुत्र अध्ययन के विना कदापि भी विद्वान् नहीं होता । इसमें सन्देह नहीं कि माता पिता से बहुत गुण आते हैं, परन्तु विद्यासम्बन्धी वार्ता नहीं आती और मनुष्य यदि उन्हें न जानें तो इनका इतर जीववत् निर्वाह होना भी दुष्कर है । बहुत क्या कहें, जैसा २ इस विषय में विवेक करेंगे वैसा २ आप जानेंगे कि पदार्थों के तत्त्वज्ञान के लिये ही मानवसृष्टि है । यह सम्पूर्ण बृहदारण्यकोपनिषद् प्रधानतया इसी को सिखलाती है। इसको आगे यथास्थान में व्याख्यान करेंगे, संक्षेप से प्रकटित आशय ही बुद्धि से बहुत कर लेना चाहिये और उस पदार्थतत्त्वविज्ञान को अध्यवसाय (परिश्रम) के विना मनुष्य कदापि भी नहीं प्राप्त कर सकता । मनुष्य ऐसा जिज्ञासावान् होकर के भी अलस होजाता है यह बड़ा आश्चर्य है । जब थोड़े प्रयोजनवाले अन्य जीव अपने एक क्षण को भी प्रयत्नशून्य और आलस्ययुक्त करते हुए नहीं देखे जाते तो क्या ही आश्चर्य है कि बहुप्रयोजनवान् मनुष्य प्रयत्नशून्य हो ।

ऐसे बुद्धिमान्, वेदों से अनुगृहीत, पृथिवी के अशेष जीवों से बड़े और उपायों से निखिल दुःखों के उपशमन करने में समर्थ होने पर भी ये मनुष्य सन्तान जो

तस्य प्रयत्नविरोध्यज्ञानमेव कारणम्। अस्त्यैहिकपारलौकिकीभ्यां भिन्ना तृतीया केवला सात्त्विकी चेष्टा या भक्तिशब्देन ज्ञानशब्देन वा व्यवह्रियते । परमे ब्रह्मणि परमा निष्ठा भक्तिर्ज्ञानम्वा । यो वाव मानव्या अशान्तेर्हेतून् सम्यग् विज्ञाय केवलकल्पनोद्भवामामुष्मिकीं कथाञ्च तिरस्कृत्य वेदत आचार्यतः स्वात्मानुभूतितश्च मनुषजनिप्रयोजनमवधार्य्य निःश्रेयस-पथप्रदर्शकं निखिलानन्दप्रदं सर्वप्राणिसुखावहं ब्रह्ममहिमानमुपधावति। सखस्याः सात्त्विक्याश्चेष्टाया अनुग्रहपात्रम्। स तृतीयाया एकमात्रामपि यदि लब्धुमनुकम्प्यते प्राक्तनसुसंस्कारैर्ब्रह्मप्रसादेन वा तर्हि तयैवैकमात्रया सहितः स यावत्सुखं जनेभ्यः प्रयच्छति तावत्सम्राडपि समस्तैरेव सम्पत्त्यंशैर्दातुं न शक्नुयात्कालत्रयेऽपि । तथाहि, सांख्येन परमर्षिः कपिलो वेदान्तेन कृष्णद्वैपायनो वैशेषिकेण कणभक्ष आन्वीक्षिक्याऽ-

---

आजतक दुःख ही भोग रहे हैं इसका प्रयत्न विरोधी अज्ञान ही कारण प्रतीत होता है। इस हेतु अज्ञान के नाशार्थ चेष्टा करनी मनुष्य का कर्तव्य है। यह जगत् स्वार्थसिद्धि के लिये ऐहिक वा पारलौकिक चेष्टा में सर्वदा आसक्त रहता है परन्तु नितान्त प्रेमियों की कथा और चेष्टा इन सब से विलक्षण होती है। ऐहिक पारलौकिक से भिन्न एक तृतीया केवल सात्विकी चेष्टा है जिसको भक्ति वा ज्ञान कहते हैं, परब्रह्म में परम जो निष्ठा उसी को भक्ति वा ज्ञान कहते हैं। जो मानवी अशान्ति के हेतुओं को अच्छे प्रकार जान, केवल कल्पना से जिसकी उत्पत्ति है ऐसी पारलौकिक कथाओं को तिरस्कार कर वेद, आचार्य्य और निजात्मानुभव से मनुष्य जन्म के प्रयोजन को निश्चित कर निःश्रेयसमार्गप्रदर्शक निखिलानन्दप्रद सर्वप्राणिसुखावह ब्रह्ममहिमा की ओर दौड़ते हैं। वे इस सात्विक चेष्टा के अनुग्रह के पात्र बनते हैं। जो पूर्वजन्म के संस्कार से अथवा ईश्वर की कृपा से यदि तृतीय चेष्टा की एक मात्रा को भी पाने को अनुकम्पित (अनुगृहीत) होता है तो वह उसी एक मात्रा से युक्त हो मनुष्यों को इतना सुख पहुंचाता है कि जितना सम्राट् भी समस्त धनसम्पत्तियों से त्रिकाल में भी नहीं दे सकता है, देखो सांख्य से परमर्षि कपिल, वेदान्त से कृष्णद्वैपायन, वैशेषिक से कणाद, न्याय से गौतम, मीमांसा से जैमिनि, योग से पतञ्जलि, व्याकरण से दाक्षीपुत्र

न्नचरणो मीमांसया जैमिनिर्योगेन पतञ्जलिर्व्याकरणेन दाक्षीपुत्रः पाणिनी रामायणेन आदिकविर्वाल्मीकिः सम्प्रत्यपि रघुवंशादि-काव्येन कालिदासो गणितेन भास्कराचार्यो भाषारामायणेन तुलसीदासश्चेत्यादयो महात्मानस्त्यक्तैषणा दृष्टब्रह्मविभूत्येकांशाः सम्प्रति कीर्त्येकशेषा अपि यावत् सुखं लोकेभ्यो वितरन्ति कः खलु सम्पूर्णपृथिवी-धनराशिसम्पन्नोऽपि तावद्धनं विश्राणयितुं पारयेत। अहो विद्यावतामीश्वरदृक्पातपात्रीभूतानां प्रभावः। एकेनैव दण्डेनाग्नेयशकटेन विना विंशतिं क्रोशान् अतिवाहयितुं सुखेनानायासेन सुहृद्भिः सहालपन्नेव गायन्नेव स्वपन्नेव केनेतरेण यानेन शक्नुयात्। सहस्रक्रोशेषु स्थितस्यापि प्रियस्य संवादं क्षणमात्रेण प्रापयितुं तडित्तारव्यापारं विना निःशेषभूजनाः संमिलिता अपि नसमर्थाः। कः खलु पृथिव्यामीदृग् धनिको वा भूपतिर्वा वर्त्तते यो धनबलेन राज्यबलेन वा लक्षोऽनेकलक्षयोजनेषु दूरेषु विचरदपि नक्षत्रमण्डलं प्रत्यासन्नमिव कृत्वा दर्शयित्वा च सर्वतो विद्वज्जनकुतूहल-मपनोदितुमर्हति। एष तु ज्ञानिनामेव प्रभावः। ये

पाणिनि, रामायण से आदिकवि वाल्मीक, आजकलभी काव्यों से कालिदास गणित से भास्कराचार्य्य, भाषारामायण से तुलसीदास इत्यादि महात्मा जो ऐषाणाओं से रहित, ब्रह्म विभूति के एक २ अंश के दर्शक हैं आजकल यद्यपि इनकी कीर्तिम अवशेष है तथापि ये जितना सुख लोगों को दे रहे हैं, कौन मनुष्य पृथिवीस्थ सम्पू धनराशि से युक्त होकर भी उतना सुख देने में समर्थ होगा। अहो ! ईश्वर की दृष्टिपात के पात्रीभूत विद्यावान् पुरुषों का प्रभाव देखो, आग्नेय शकट (रेलगाड़ी) के विना एक दण्ड में २० । २५ क्रोश पहुंचने में सुखपूर्वक अनायास से सुहृदों के साथ आलाप करता, गाता हुआ ही सुख से सोता हुआ हंसता हुआ ही अर्थात् सर्व सुख से ही अन्य यान से समर्थ हो सकता है। सहस्र क्रोशों पर स्थित भी प्यारे के सम्बाद को क्षणमात्र में पहुंचा देने में तड़ित् तार के व्यापार के विना सब मनुष्य मिलकर भी समर्थ नहीं हो सकते। पृथिवी पर कौन ऐसा धनिक वा भूपति है जो धनबल से वा राज्यबल से अनेक लक्षयोजन दूर पर विचरण करते हुए भी नक्षत्रमण्डल को मानो समीप में लाकर और सब प्रकार से दिखला विद्वज्जन के कुतूहल को दूर करने में योग्य होवे। यह सब ज्ञानियों

हि दूरवीक्षणयन्त्रादिकं प्रकाश्य दुर्लभेनापि वस्तुना प्रजामनोरथं पूरयन्ति । ईदृशाः शतशो महिमानो विराजन्ते पृथिवीतले तेषां ब्रह्मविभूति महोदधेरभिमुखीनानां महात्मनाम् इमे श्रोत्रिया ब्रह्माऽऽज्ञा-प्रचार-व्यग्रीभूता जनहितसाधनव्रतपरायणास्तृणीकृत-संसारिक-विभूतयो वासिष्ठ विश्वामित्रा त्रि-कश्यप-गोतमाङ्गिरोवामदेवागस्त्यप्रभृतयो यानि यान्यद्भुतानि कार्य्याणि सम्पाद्य प्रजाभ्यो हितमकार्षुः तद्वर्णनेऽपि न केषाञ्चिद् वाणीप्रसारः । एतेषामेव महापुरुषाणां नितान्तमनुष्यसुखेच्छूनामुद्योगप्रभावो यदिदानीमपि मनुष्या धर्ममाचरन्तः सुखभाजनानि भवन्ति ।

ब्रह्मसाक्षात्कारः ॥

कथं, ब्रह्मसाक्षात्कारः । कोऽस्याभिप्रायः । किं तदस्मदादिवच्छरीरं बिभ्राणं क्वचिदपि गुहामधिशेत अथवा दिवि तृतीयस्थाने तिष्ठत्सर्वं स्वमहिम्ना

का प्रभाव है जो दूरवीक्षण यन्त्रादिकों को प्रकाशित करके दुर्लभ वस्तु से प्रजाओं के मनोरथ को पूर्ण कर रहे हैं । उनके ऐसे २ शतशः महिमा पृथिवीतल में विराजमान हैं जो लोग ब्रह्मविभूतिरूप महोदधि की ओर अभिमुख हुए हैं । इन लोगों से भी अधिक श्रोत्रिय ब्रह्मज्ञाप्रचार में व्यग्रीभूत जनहित-साधनव्रतपरायण और सांसारिक-विभूति को जिन्होंने तृणवत् समझा है ऐसे २ वसिष्ठ, विश्वामित्र, अत्रि, कश्यप, गौतम, अङ्गिरा, वामदेव, अगस्त्य प्रभृति महर्षियों ने जिन २ अद्भुत कार्यों को सम्पादन करके प्रजाओं का हित किया । उसके वर्णन करने में भी किन्हीं की वाणी का प्रसार नहीं है । इनहीं महापुरुष और नितान्त मनुष्यसुखेच्छु महर्षियों के उद्योग का प्रभाव है कि आज भी मनुष्य धर्माचरण करते हुए सुख के पात्र होते हैं ॥

ब्रह्मसाक्षात्कार ॥

(१) ब्रह्म साक्षात्कार कैसे हो सकता है और इसका क्या अभिप्राय है ?

(२) क्या वह ईश्वर हम लोगों के समान शरीर को धारण कर किसी गुहा में वा समुद्रादि में शयन करता हुआ है ? अथवा द्युलोक जो तृतीयस्थान कहा जाता है वहां रहता हुआ सम्पूर्ण विश्वको निज महिमा से शासन कर रहा है ? वहां

प्रशास्ति । किम् अनेन मानव विग्रहेण कदाचिदपि स ईश्वर-पदवाच्यो देवो द्रष्टुं शक्यः ? आहोस्विन्नेति । कस्यापि महात्मनोऽनुनयेन प्रतीतः सन् तादृशमेव रूपं धृत्वा स्वात्मानं तस्मै कदापि दर्शयति न वेति ? प्रेत्यापि प्रत्यक्षतया घटपटादिवत् तं द्रक्ष्यन्ति यतयः क्षीणकल्मषाः ! आहोस्विन्नेति ! अस्ति कापि मनुष्याणा-मीश्वरप्रत्यक्षीकरणयोग्यता नवेति

समाधीयते—न सन्ति सम्प्रति युधिष्ठिरपरीक्षिज्जनमेजयविक्रमादीनां महीक्षितां तानि भौतिकशरीराणि । ते नास्मा-ननुशासति । नास्मान् ब्रुवन्ति किमपि । यदा तु तेषामाशैशवात् कथोद्घातं सर्वं चरित्रं पठामो यशोगानं च शृणुमस्तदा प्रत्यक्षाः पुरःस्थिता इव ते प्रतिभान्ति प्रीतिं जनयन्ति । तेषां चरित्रं श्रावं श्रावं वयं सुखिनो भवामः । प्रीत्या श्रद्धयौत्सुक्येन च तच्चरित्रं गायन्ताजना उन्मत्ता भवन्ति, रुदन्ति, हसन्ति, वीरायन्ते । पुनः पाणिनिः क्वावात्सीत् किमा-

---

ही जाकर सबों को उससे साक्षात्कार होता है । (३) क्या इस मनुष्य-शरीर से कदाचित् भी वह ईश्वर पदवाच्य देव दीख सकता है ? (४) किसी महात्मा के विनय प्रार्थना से प्रसन्न हो वैसे ही रूप को धर अपना शरीर किसी को दिखला सकता है या नहीं ? (५) मरणानन्तर भी जो यति निष्पाप है वे लोग भी घटपटादिवत् प्रत्यक्षतया उसको देख सकेंगे या नहीं ? बहुत क्या कहें ईश्वर को प्रत्यक्ष करने में मनुष्यों को कोई योग्यता है या नहीं ?

समाधान—देखो, सम्प्रति युधिष्ठिर, परीक्षित्, जनमेजय, विक्रमादित्य आदि महीपालों के वे भौतिक शरीर नहीं हैं । वे आज हम लोगों के ऊपर शासन नहीं करते। न हम लोगों से कुछ कहते हैं परन्तु जब हम उनकी बाल्यावस्था से लेकर सब चरित्रों को अच्छे प्रकार पढ़ते अथवा उनके यशोगान सुनते सुनाते हैं तब वे प्रत्यक्ष सामने खड़े से भासित होते, प्रीति उत्पन्न करते हैं उन के चरित्र सुन २ कर हम सुखी होते हैं। प्रीति, श्रद्धा और उत्सुकता से उनके चरित्र को गाते हुए लोग उन्मत्त हो जाते, रोने लगते, हंसने लगते, वीरता आजाती है । और भी—पाणिनि कहां रहते थे, उनकी आकृति कैसी थी, वे गौर वा कृष्ण थे, सुन्दर वा कुरूप थे, यह सब हम लोग

कृति-र्गोरो वा कृष्णो वा सुन्दरो वा कुरूपो वासीदिति न वयं विज्ञो न चेदानीं केनापि प्रकारेण तज्ज्ञानसम्भवोस्ति । तथापि तदीयं व्याकरणं येऽधीयते ते महर्षिमेव तं मन्यन्ते, तस्य नामश्रवणादेवोल्लसिता भवन्ति, अनवरतं तस्य महिमानमुद्घोषयन्ति, पूज्यबुध्या आदरधिया च तदीयं सर्वं पश्यन्ति। यो निपुणः स्थपतिरपूर्वरचनमनन्यकौशलघटितं भवनं विरच्येत उत्क्रामति । तस्य तु नामधेयमाभवनविध्वंसात् परम्परया लोका कीर्तयन्ति । समये समये तस्य सर्वं चरित्रं श्रुत्वा विस्मयमापन्ना भवन्ति ।

एवमेवेश्वरसाक्षात्कारो द्रष्टव्यः । पाणिनेरेकेनैव ग्रन्थेन वयमेवं मोहिता ईश्वरस्य तु असंख्येया अगण्या गणनवृत्त्यतिक्रान्ताः सन्ति परितः स्थापिता

नहीं जानते हैं और आज किसी प्रकार से उन सबों का ज्ञान होना भी संभव नहीं है तथापि उनके बनाए व्याकरण को जो लोग पढ़ते हैं वे उनको महर्षि ही मानते हैं । उनकी साक्षात्मूर्ति देखने को किसी को लालसित और उत्कण्ठित नहीं देखते। कोई नहीं कहता है कि जब तक पाणिनि का साक्षात्कार नहीं होगा तब तक उनके व्याकरण पढ़ने से क्या लाभ और आनन्द भी नहीं आवेगा । किन्तु उनके नाम श्रवण से ही सब कोई जाननेवाले गद्‌गद् हो जाते हैं । अनवरत उनकी महिमा को उद्घोषित करते हैं । पूज्यबुद्धि और आदरबुद्धि से उनके सब पदार्थ को देखते हैं। और भी देखो—लोक में देखते हैं कि यदि कोई निपुणस्थपति (मकान बनानेहारा) अपूर्वरचनासहित, अनन्यकौशलघटित (जिस कौशल को अन्य कोई नहीं घटा सकता) भवन को बनाकर यहां से ऊपर चला गया (अर्थात् मर गया) तथापि इसके नाम को जब तक भवन नष्ट नहीं हुआ है तब तक परम्परा से लोग गाया करते हैं । समय २ पर उसके चरित्र को सुन विस्मयापन्न होते हैं।

इनही उदाहरणों को ध्यान में रखकर अब ईश्वर साक्षात्कार के विषय में मीमांसा करो । ईश्वर का भी साक्षात्कार ऐसा ही है । पाणिनि के एक ही ग्रन्थ से हम लोग ऐसे मोहित हैं परन्तु ईश्वर के असंख्य, अगण्य, गिनने की जहां-तक शक्ति है उससे भी बहुत दूर स्थित ग्रन्थ चारों तरफ स्थित हैं । ऐन्द्र

ग्रन्थाः । ऐन्द्रजालिकस्यैकमपि विलक्षणमभूतपूर्वं कौतुकमवलोक्य बहु हृष्यामो हृदयेन च तं प्रशंसामश्च । कति सन्ति कौतुकानीश्वरस्य, कति चरित्राणि इतस्ततो लिखितानि यानि केषांचिद् योगिनां यतीनां वा मनांसि मोहयन्ति । इदमेव समष्टिव्यष्टिभावेन स्थितं जगज्जगदीश्वरस्य ग्रन्थराशिः साक्षात्तेनैव लिखितो नान्यैः संशयितैः कविभिः । यो हि सर्वमीश्वरचरित्रं चित्रयति तस्य यथा यथैतज्ज्ञानमुपचीयते तथातथेश्वरसाक्षात्कारोऽनुभूयते । को हि बुद्धिमतांवरो निपुणस्याऽस्य शिल्पिनः शिल्पमवलोक्य अदर्शनेनापि तद्दर्शनं नानुभवति ।

ननु—"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्त मनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति । इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा मह[illegible]ः ।

जालिक के एक भी विलक्षण अभूतपूर्व कौतुक को देखकर बहुत हर्षित होते हैं हृदय से उसकी प्रशंसा करना आरम्भ करते हैं । ईश्वर के कितने कौतुक हैं । कितने चरित इधर उधर लिखित और गोप्य न हैं जो किन्हीं योगियों और यतियों के मन को मोहित कर रहे हैं । यही समष्टिव्यष्टिभाव से स्थित जगत ही ईश्वर का ग्रन्थराशि है जो साक्षात् ईश्वर से ही लिखित है अन्य संशयापन्न कवियों से नहीं जो ईश्वर के सब चरित्रों को प्रकाशित करता है । जैसे २ इसका ज्ञान बढ़ता जाता है वैसे २ ईश्वर साक्षात्कार का अनुभव होता है । बुद्धिमानों में श्रेष्ठ कौन विद्वान् निपुण शिल्पी के शिल्प को देख दर्शन के विना भी उस शिल्पी के दर्शन का अनुभव नहीं करता है ॥

प्रश्न—(न तत्र०) वहां सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, विद्युत आदि कोई पदार्थ प्रकाश नहीं करते । इस अग्नि की वहां शक्ति ही क्या है । वहां वह स्वयं प्रकाशित है । इसके पीछे सब प्रकाशित होते हैं । इसी की दीप्ति से सब ही दीप्तिमान् हो रहा है (इन्द्रियेभ्यः) इन्द्रियों से परे अर्थ (विषय) है । अर्थों से परे मन है । मन से परे बुद्धि है । बुद्धि से परे महान् (महत्तत्व) और महान् से परे अव्यक्त (प्रकृति) है अव्यक्त से परे पुरुष (ईश्वर) है । पुरुष से परे कुछ नहीं

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा परमा-गतिः" इत्येवं जातीयकेभ्यः श्रुतिवाक्येभ्यो जगद्बहिर्भूतमीश्वरं मन्यन्ते महर्षयः। अतो जगद्विज्ञानेन कथमस्य साक्षात्कारः । यदि स प्रकृतिस्वरूपः स्यात्तर्हि प्रकृतिपरिचयेन तस्यापि बोधः सम्भवेन्न तथा सोऽभ्युपगम्यते भवद्भिः कथं तर्ह्येष वादः ।

समाधानम्—पूर्वोक्तानि निदर्शनानि परिशीलयत-यथा युधिष्ठिरादीनां महामहाद्भुतकर्मणां सम्राजां विद्यानिधीनां पाणिन्यादीनाञ्च चरित्रामृतं कर्ण-पुटैः पीत्वा तत्सान्निध्यमनुभवन्ति जनाः । एवमेवेश्वरचरित्रचित्रितमाद्यन्तवि-हीनं जगदिदमधीत्य कथन्न तत्साक्षात्कारानुभवो विज्ञानाम् । यथाचेह चरित्रचरि-त्रिणोः सर्वथा भेदेऽपि चरित्रं स्वस्वामिनं सर्वेषां श्रोतॄणां मनःसु सम्यक् स्थापयति सर्वावयवान् प्रत्यक्षयति, उन्मादयति, अन्यत्सर्वं विस्मारयति, बहून् दुर्गुणानपि तनूकरोति तान् मन्दंमन्दमुत्खातयति पश्चादुज्ज्वलीकृत्यलोकेषु पूज्यमपि विदधाति

है । वही काष्ठा है । वही परा गति है । इस प्रकार के श्रुतिवाक्यों से विदित होता है कि महर्षि लोग जगत् से बाहर ईश्वर को मानते हैं । इस हेतु जगत् के विज्ञान से इसका साक्षात्कार कैसे हो सकता है । यदि वह ईश्वर प्रकृति स्वरूप ही होवे तब तो प्रकृति के परिचय से उसका भी बोध होना संभव है । पर वह वैसा नहीं माना जाता है । तब यह वाद कैसे ? ॥

समाधान—पूर्वोक्त उदाहरणों को अच्छे प्रकार विचार करो । जैसे महा अद्भुत कर्मकरनेहारे युधिष्ठिर आदि सम्राटों के और विद्यानिधि पाणिनि आदि महर्षियों के चरित्रों को कर्णपुटों से पीकर उनकी समीपता का अनुभव मनुष्य करते हैं । वैसे ही ईश्वर के विपुल आद्यन्तविहीन जगत्रूपचरित्र को पढ़ करके विज्ञपुरुषों को ईश्वरसाक्षात्कार का अनुभव क्यों नहीं होगा और जैसे चरित्र और चरित्रियों (चरित्रवाला) का सर्वथा भेद रहने पर भी चरित्र अपने स्वामि को सब श्रोत्रियों के मन में अच्छे प्रकार स्थापित करदेता है । उसके सब अवयवों को प्रत्यक्ष करता है, सुननेहारे को उन्मत्त बना देता है । अन्य सब को भुला देता है । बहुत दुर्गुणों को थोड़े कर देता है । मन्द मन्द उन दुर्गुणों को उखाड़ डालता है । पश्चात् अपने स्वामी को उज्ज्वल

यदा मानवचरित्रस्यायं महिमास्ति तदा का कथेश्वरवार्तायाः । एतेन-जगज्जगदीश्वरयोरभेदस्वीकारे सत्येव जगद्विज्ञानेनेश्वरबोधः शक्य इति यदुक्तं तन्न दूरदर्शिनां विचारसहम् । अथ "न तत्र सूर्यो भाति" इत्यादि वाक्यानां कोऽभिप्रायः? यदि यत्र यत्रेश्वरसत्त्वं न तत्र तत्र सूर्यादीनां गतिरित्याशयवन्तः सन्ति भवन्तस्तर्हि न साधु विचारयन्ति । सर्वत्रेश्वर-व्यापकत्वाऽभ्युपगमात् । यदि नतत्रेत्यादीनि वाक्यानि सूर्यादि-गतिविरहितेऽपि प्रदेशे ब्रह्मसद्भावं सूचयन्ति तर्हीदं सर्वं वयं स्वीकुर्म्मः । एतेन प्रकृतिविज्ञानमेव ईश्वर-साक्षात्कारे प्रधानं

कर ५ लोगों में पूज्य भी करता है । जब मानवचरित्र की ऐसी महिमा होती है तब ईश्वर सम्बन्धी वार्ता के विषय में कहना ही क्या है । इससे यह भी सिद्ध होता है कि जगत् और ईश्वर के अभेद स्वीकार करने पर ही जगत् के विज्ञान से ईश्वर का बोध हो सकता है यह जो पूर्व में कहा है सो दूरदर्शियों के विचार योग्य बात नहीं है । अब आपने " न तत्र सूर्यो भाति " इत्यादि वाक्यों का क्या अभिप्राय समझा है । यदि इसका भाव यह होवे कि जहां २ ईश्वर की सत्ता है वहां २ सूर्यादिकों की गति नहीं है यदि आप ऐसा ही अर्थ मानते हैं तो कहना पड़ेगा कि आप अच्छा विचार नहीं करते क्योंकि ईश्वर की व्यापकता को सर्वत्र स्वीकार कर चुके हैं । यदि " न तत्र सूर्यो भाति " इत्यादि वाक्य सूर्यादि-गतिरहित प्रदेश में भी ईश्वर की विद्यमानता को सूचित करता है तब हम सब भी इसको स्वीकार करेंगे अर्थात् ईश्वर सर्व व्यापक है यह सर्ववादि-सम्मत है तब जहां सूर्य और जहांतक सूर्य की गति है वहां पर भी ईश्वर है इसमें सन्देह नहीं तो इससे सिद्ध हुआ कि ईश्वर के निकट भी सूर्य चन्द्र नक्षत्र विद्युत् और अग्नि प्रकाश करते हैं । तब "न तत्र सूर्यो भाति" ऐसे उपनिषद् वाक्यों का आशय दो प्रकार से हो सकता है कि इन सूर्यादिकों की ज्योति से ईश्वर अस्मदादिवत् प्रकाशित नहीं । अथवा जहांतक उन की गति है उससे भी परे भगवान् है भगवान् की ज्योति से यह प्रकाशित है न कि इनकी ज्योति से भगवान् प्रकाशित है । इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रकृति विज्ञान ही ईश्वर साक्षात्

साधनं गौणदर्शनमपीदमेवेत्यत्र न कापि क्षतिः । अतः प्रथमभूमिकायां जगत्येव महिमा दर्शनीयः परमप्रीत्या स एव चिन्तनीयः । यथायथातद्बोधोदयस्तथातथेश्वरसान्निध्य-प्राप्तिरिति सन्तोषणीयम् ।

किमिह बहु वर्णयामि । जगदिदमीश्वरस्य परमप्रियमस्ति । कथमन्यथा स्वयं भगवान् निर्म्मलो, निर्विकारः शुद्धोऽपापविद्धोऽपि भूत्वा तद्विपरीतमिदं जगत् प्रविश्य स्वावयवमिव नृपोऽमात्यमिव करोति । प्रीतिं विना कथय कथमेतत्संभवति । श्रुतीनां बहुषु स्थलेषु ईश्वरस्याङ्गत्वेन सूर्य्यादयो रूप्यन्ते ।

तथाहि—यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्ष मुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।

अविग्रहस्य भगवतो न हि भूम्यादयः पादादयो भवितुमर्हन्ति कथं तर्हि

कार में प्रधान साधन है और यही गौणदर्शन है । इस हेतु प्रथम भूमिका में जगत् में ही उस की महिमा दर्शनीय परमप्रीति से वही चिन्तनीय है । जैसे २ उस महिमा के बोध का उदय होता जायगा वैसे २ ईश्वर की सन्निधि की प्राप्ति होती है । ऐसा सन्तोष करना उचित है ।

यहां मैं क्या बहुत वर्णन करूं । यह जगत् ईश्वर को परमप्रिय है । यदि ऐसा न होता तो स्वयं निर्मल, निर्विकार, शुद्ध, अपापविद्ध होकर इसके विपरीत इस जगत् में प्रविष्ट हो राजा मन्त्री के समान निज अवयववत् बनाता है । कहो प्रीति के विना यह कैसे संभव हो सकता । श्रुतियों के बहुत स्थलों में ये सूर्यादि पदार्थ ईश्वर के अङ्गवत् निरूपित हुए हैं ।

देखो (यस्य) जिस परमेश्वर का (भूमिः) पृथिवी (प्रमा) चरण समान (अन्तरिक्षम्+उत+उदरम्) और अन्तरिक्ष उदर समान है (यः) जिसने (दिवम्+मूर्धानम्) द्युलोक को मूर्धा स्थानीय बनाया है (तस्मै०) उस सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म को नमस्कार होवे ।

शरीर रहित भगवान के चरण आदि पृथिवी आदि नहीं हो सकते हैं । तब

वर्णनमिदम् । भूम्यादिषु पादादीनामारोपोऽज्ञानिनां सुबोधाय क्रियत इति तु सत्यम् । किन्तु किञ्चित्साम्यमुपलभ्यारोप्यते । नहीश्वरस्य त्रिकालेऽपि जगता सह किञ्चिदपि साम्यत्वं लभ्येत । एतेन पुत्रे पितेवेश्वरो जगति स्निह्यतीति प्रतीयते । यद्वा तज्ज्ञानाय इमे सूर्यादय एव साधनभूता इति श्रुतीनां ध्वनयः ।

वेदाः खलु क्वचित्प्रश्नप्रतिवचनाभ्यामिमान् सूर्यादीन् प्रस्तुवन्त एते तत्त्वतो विज्ञातव्यास्तैर्ब्रह्ममहिमा ज्ञातव्यो भवतीति विस्फुटमुपदिशन्ति । अन्यथा जड़ानां वर्णनेन किं प्रयोजनं स्यात् । तथाहि—

"कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः । किं स्विद्धिमस्य भेषजं किम्वाऽऽवपनं महत् ॥ ९ ॥ सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः । अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्" ॥ १० ॥ यजुर्वेद । २३ ॥ पुनः—को अस्य वेद-

---

यह वर्णन कैसे हो सकता है । यदि कहो कि पृथिवी आदिकों में चरण आदिकों
का यहां आरोपमात्र कियागया है कि अज्ञलोक अच्छे प्रकार समझ जायँ । सो यह
सत्य है परन्तु जब तक किञ्चित् समता न हो तब तक आरोप नहीं होता है । परन्तु
त्रिकाल में भी जगत् के साथ ईश्वर की किञ्चित् समता नहीं हो सकती है । इससे यह
सिद्ध होता है कि पितापुत्रवत् इस जगत् में ईश्वर का स्नेह है । अथवा उसके
ज्ञान के लिये सूर्यादि पदार्थ ही साधनभूत हैं यह श्रुतियों की ध्वनि है । और भी
देखो—कहीं कहीं वेद प्रश्नोत्तररूप से इन सूर्यादिकों का वर्णन करते हुए उपदेश
देते हैं कि ये तत्त्वतः विज्ञातव्य हैं उनसे ब्रह्ममहिमा जानने योग्य होता है ।
अन्यथा इन जड़ पदार्थों के वर्णन से क्या प्रयोजन ? ।

वेदों में प्रश्न आए हैं (कः स्वित्) कौन पदार्थ (एकाकी+चरति) अकेला
विचरण करता है ? (कः उ स्वित्+जायते+पुनः) कौन पुनः पुनः नवीन होता हुआ
दीखता है ? (किं स्वित्) क्या (हिमस्य) हिम का (भेषज [illegible] औषध है ? ।
(किम्वा+आवपनं+महत्) सब से बड़ी बोने की जगह कौन है ? ॥ ९ ॥ (सूर्यः
एकाकी+चरति) सूर्य अकेला विचरण करता है (चन्द्रमाः+जायते+पुनः) चन्द्रमा
पुनः पुनः नवीन होता हुआ प्रतीत होता है (अग्निः हिमस्य+भेषजम्) अग्नि

भुवनस्य नाभिं को द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम् । कः सूर्यस्य वेद बृहतो जनित्रं "को वेद चन्द्रमसं यतोजाः" ॥ ५९ ॥ यजुः २२ ।
"वेदाहमस्य भुवनस्य नाभिं वेद द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम् । वेद सूर्यस्य बृहतो जनित्र-मथो वेद चन्द्रमसं यतोजाः ॥ ६० ॥ पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिम् । पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं-व्योम ॥ ६१ ॥ किंस्वित्सूर्यसमं ज्योतिः किं समुद्रसमं सरः । किंस्वित् पृथिव्यै वर्षीयः कस्य मात्रा न विद्यते ॥ ४७ ॥ ब्रह्म सूर्यसमं ज्योति-र्द्यौः समुद्रसमं सरः । इन्द्रःपृथिव्यै वर्षीयान्, गोस्तु मात्रा न विद्यते" ॥ ४८ ॥

हिम का औषध है (भूमिः) यह पृथिवी ही बोने का बड़ा स्थान है ॥ १० ॥ पुनः (अस्य+भुवनस्य) इन सम्पूर्ण प्राणियों के (नाभिम्) कारण को (कः वेद) कौन जानता है ? (द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्) द्युलोक पृथिवी और आन्तरिक्षलोक को (कः) कौन जानता है ? (बृहतः सूर्यस्य) इस महान् सूर्य के (जनित्रम्) जन्म को (कः) कौन जानता है ? (चन्द्रमसम्) चन्द्रमा को (यतोजाः) कहां से पुनः पुनः प्रकाशित होता है इसको (कः+वेद) कौन जानता है ? ॥ ५९ ॥ इस प्रश्न के उत्तर में, मानो, एक जीवात्मा कहता है कि (अहम्) मैं (अस्य+भुवनस्य+नाभिम+वेद) इस भुवन के कारण को जानता हूं । और (द्यावा०) पृथिवी अन्तरिक्ष को मैं जानता हूं (वेद सूर्यस्य०) इस बड़े सूर्य के जन्म को मैं जानता हूं (अथो वेद०) और चन्द्रमा जहां से पुनः पुनः होता है इसको भी जानता हूं । (पृच्छामि त्वा०) मानो ऋत्विक् परस्पर पूछते हैं कि (पृथिव्याः) पृथिवी के (परमन्तम्) अवधि को तुम से मैं पूछता हूं (यत्र भुवनस्य नाभिः) जहां जगत् का कारण है उसको (पृच्छामि) पूछता हूं (वृष्णः) वर्षण करनेहारे (अश्वस्य) सूर्य वा काल के (रेतः) बीज को (त्वा+पृच्छामि) तुम से पूछता हूं (वाचः) वेदरूप वाणी का (परमं व्योम) परमस्थान को (पृच्छामि) पूछता हूं ॥ ६१ ॥ (सूर्यसमं+ज्योतिः) सूर्य समान ज्योति (किंस्वित्) क्या है ? सो तुम कहो (समुद्रसमं+सरः) समुद्र समान सरोवर (किम्) कौन है ? (पृथिव्यै+वर्षीयः+किंस्वित्) पृथिवी से बड़ा कौन है ? (कस्य+मात्रा न विद्यते) जिसका परिणाम नहीं है ॥४७॥ इसके उत्तर में कहा जाता है कि (ब्रह्म) वेद वा ब्रह्मविद् पुरुष वा स्वयं ब्रह्म

यः कश्चिदृत्विक् यजमानो वा पृथिव्यादि-तत्त्वं सम्यङ्न जानाति स कथं भुवनस्य नाभिं पृथिव्याः परमन्तं सूर्यादीनाञ्च गमनागमनं वेतुमर्हति। कथञ्चेदृशानां प्रश्नानां समाधानं करिष्यति। अतोऽपि प्रकृतिरध्येतव्येति विज्ञायते सा चेश्वर साक्षात्कारे साधनम्।

एतेषां तत्त्वज्ञानादेव निःश्रेयसाभ्युपगम इत्यपि वेदोपदेशः। तद्यथा—"गर्भे नु सन्नन्वेषा मवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षनध श्येनो जवसा निरदीयम्" ॥ ऋ० वे०। ४। २७। १॥ यहिं ताव

(सूर्य्य समं ज्योतिः) सूर्य समान ज्योति वाला है (द्यौः समुद्रसमम्+सरः) द्युलोक समुद्र समान सरोवर है (इन्द्रः) विद्युत् (पृथिव्यै+वर्षीयान्) पृथिवी से बड़ा है (गोः) इस गमनशील विश्व का (मात्रा+न+विद्यते) परिमाण नहीं है। अर्थात् यह दृश्यमान विश्व कहांतक है इसका निर्णय नहीं हो सकता। इन मन्त्रों को विचारो।

जो कोई ऋत्विक् वा यजमान पृथिवी आदिक तत्वों को अच्छे प्रकार नहीं जानता है वह कैसे भुवन के कारण को, पृथिवी की अवधि को, सूर्यादि के गमनागमनों को जानने में समर्थ हो सकता है। कैसे ऐसे प्रश्नों का समाधान कर सकेगा। इस से भी यही जाना जाता है कि प्रथम ईश्वर साक्षात् के लिये प्रकृति का ही अध्ययन करना चाहिये।

पुनः इसके तत्त्वज्ञान से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है यह वेदों का उपदेश है। जैसे कोई जीवात्मा मुक्तावस्था में कहता है (सन्) जीवात्मा (अहम्) मैंने (गर्भे) इस ब्रह्माण्डरूप गर्भ में वर्तमान (तेषां देवानाम्) इन्द्र, अग्नि, वायु, सूर्यादि सकल प्राकृत वस्तुओं के (विश्वा) सब (जनिमानि) उत्पत्ति स्थिति आदि अर्थात् सब तत्वों को (नु) निश्चितरूप से (अनु+अवेदम्) अच्छे प्रकार जान लिया तब (मा) मुझको जो (आयसीः) लोहमयी अर्थात् बन्धनमय (शतम्) अनेक (पुरः) शरीर (अरक्षन्) रक्षा करते थे (अथ) अब (जवसा) ज्ञान रूप बड़े वेग से (श्येनः) बाजपक्षी के समान (निरदीयम्) उनसे निकल गया हूं। लोहमय शरीर मेरी रक्षा करते थे इसका भाव यह है कि मैं अज्ञानता के कारण लोह सदृश अटूट शरीर में बन्द था। जब मैंने सकल प्राकृतिक वस्तुओं के तत्त्वों को

वामदेवो जीवो देवानां प्राकृतानां सूर्यादीनां निखिलानि जनिमोपलक्षिततत्त्वानि वेत्ति। तदायमयःपुरोपलक्षितनिखिलदुःखबन्धनानि मोचयित्वाऽऽत्यान्तिकसुखापर-पर्य्यायमपवर्गं लभत इति मन्त्राशयः।

इतश्चापि प्रकृतिरेवेश्वरसाक्षात्कारे साहाय्यकारिणी। वेदेषु सर्वाः प्रसिद्धा अप्रसिद्धा वा विद्या बीजरूपेणोपदिष्टाः सन्तीति महर्षीणां राद्धान्तः। ता एव विद्या महर्षिभिः स्वस्वव्याख्याभिर्बहुलीकृता विविधप्रस्थानोपबृंहिता ब्रह्मचर्य-व्रतेन वर्णिभिरधीयन्ते। ता विशेषतया प्रकृतिविकारवर्णनपरा एव दृश्यन्ते। यदि विकाराध्ययनमीश्वरज्ञानसाधनं नाऽभविष्यत्। तर्हि तत्त्वपारदृश्वानो महर्षयः तास्ता विद्या न प्राचारयिष्यन् अतो ब्रह्मणो महिमैव दृश्यः। महिमा तु

अच्छे प्रकार जान लिया तब श्येन पक्षी के समान ज्ञानरूप साधन के द्वारा बड़े वेग से उन शरीरों से निकल गया अर्थात् जन्मरहित होगया। अब मैं मुक्ति का सुख भोग रहा हूं। यह इसका भाव है, इस मन्त्र से भगवान् उपदेश देता है कि जबतक पदार्थ ज्ञान नहीं होगा तबतक मुक्ति नहीं होगी। अतः इससे प्रतीत होता है कि पदार्थज्ञान ईश्वर साक्षात्कार में सहायक होता है क्योंकि जब वामदेव जीव ने प्राकृत सूर्यादि सब देवों के जनिमोपलक्षित निखिल तत्त्वों को जानलिया तबही अयः पुरोपलक्षित निखिल बन्धनों से अपने को छुड़ाकर आत्यन्तिक सुखवाला अपवर्ग को प्राप्त हुआ॥

इससे भी प्रकृति ही ईश्वर साक्षात्कार में साहाय्यकारिणी होती है॥ वेदों में प्रसिद्ध वा अप्रसिद्ध सारी विद्याएं बीजरूप से उपदिष्ट हैं यह सब महर्षियों का सिद्धान्त है उनही विद्याओं को महर्षियों ने स्वस्वव्याख्याओं से बहुत बढ़ाया है। विविध प्रस्थानों से वे युक्त हुए हैं। उनको ही ब्रह्मचर्य्य व्रत से ब्रह्मचारी अध्ययन करते हैं। वे सारी विद्याएं प्रकृति के विकार के वर्णन परक ही दीखती हैं। यदि विकाराध्ययन ईश्वर के ज्ञान का साधन नहीं होता तो तत्त्वों के पार तक देखे हुए महर्षिगण उन २ विद्याओं का प्रचार कदापि नहीं करते। इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म की महिमा ही दृश्य है। यह सम्पूर्ण जगत् ही ब्रह्म की महिमा है।

सर्वमिदं जगज्जगदीश्वरस्य । अन्यच्च । चेतनमात्रस्याज्ञेयस्यादृश्यस्य ब्रह्मणोऽस्तित्वं, स्रष्टृत्वं, रक्षितृत्वं, विनाशयितृत्वं, महत्त्वं, पूज्यत्वमुपास्यत्वमित्येवंविधानि गुणकर्म्माणि कथमवधारितानि ? । इदं जगदवलोक्यैवेत्यत्र कः सन्देहः । न हि मानुषै-र्नदेवै-र्नान्यै-र्जगदिदं जनयितुं शक्यम् । न च स्वयमुत्पद्यते । अतोऽस्त्यस्य-कोऽपि कर्त्तेत्यनुमीयते । यो हीदृशं पञ्चभूतसमन्वितं ससूर्यचन्द्रनक्षत्रादिकं जगज्जनयति तेन कीदृशेन भवितव्यम् । तेनैतेभ्यः सर्वेभ्यो ज्यायसा भाव्यम् । इदमनुमानं सुकरं भवति । विचार्य्यतां सम्प्रति जगतो महत्त्वेनेश्वरस्य महत्त्वमनुमीयते । तर्हि कथन्न जगदध्येयम् । अतो जगन्महत्त्वज्ञानमन्तरा ब्रह्मणो महत्त्वविज्ञानमपि न संभवति । अतो यदि ब्रह्म साक्षात्कर्तुमीहसे तर्हि प्रथमं महिमाध्येतव्यः । अथेश्वरः कस्मिंश्चित्स्थाने तिष्ठतीतियोऽयं द्वितीयः प्रश्नः । तत्रेदंवाच्यम् । बालकाः समुद्रादिस्थानविशेषेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरं मन्यन्ते न शास्त्रिणो वेदादिभिस्तस्य सर्वव्यापकत्वावधारणात् । मानवविग्रहेण स कदाचिदपि दृश्यो भवतीति तृतीयः प्रश्नोऽपि पूर्ववदेवास्ति । यदा जीवात्मापि मानवविग्रहेण प्रत्यक्षीकर्तुं न शक्यः । तर्हि कथमीश्वरोऽणीयसामप्यणीयान् ।

"न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्म्मणा वा । ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥ एषोऽणुरात्मा चे-

---

और भी ब्रह्म के अस्तित्व स्रष्टृत्व आदि गुण भी तो जगत् के अवलोकन से ही विदित होता है । न मनुष्य न देवादिक इस जगत् को बना सकते इससे सिद्ध होता है कि इस जगत् का कोई कर्त्ता धर्त्ता अवश्य है इस प्रकार जगत् के महत्त्व के ज्ञान से ही ईश्वर के महत्त्व का भी बोध होता है । फिर जगत् का अध्ययन क्यों नहीं किया जाय इस हेतु ईश्वर के साक्षात्कार करने के लिये प्रथम महिमा ही अध्येतव्य है । क्या ईश्वर किसी विशेष स्थान में रहता ? इस द्वितीय प्रश्न का उत्तर केवल यह है कि यह बालकों की कथा है विद्वानों की नहीं क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापक है इसको सब मानते हैं । मनुष्य शरीर से ईश्वर दृश्य होता या नहीं

तसा वेदितव्यः" ॥ "न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनै-नम् । हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्ता य एतद्विदुरमृतास्तेभवन्ति"॥ "न तत्र चक्षुर्ग-च्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न जानीमो यथैतदनुशिष्यात्"। इत्येवंविधानि प्रमाणानि ब्रह्मणश्चक्षुरादिभिरग्राह्यत्वमदृश्यत्वञ्च साधय-न्ति । एतत्सर्वमुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामो यथास्थानम् । विस्तरभयादत्रैव समा-पयामीमामवपातनिकाम् । येन केन प्रकारेण मनुष्यजन्मप्रयोजनं विज्ञाय तद-नुष्ठातुं प्रयत्नवान् भवेदित्याशास्महे ॥

यह प्रश्न भी पूर्ववत् ही है। जब जीवात्मा ही को इस मानव शरीर से प्रत्यक्ष नहीं कर सकते तो ईश्वर को कैसे ? "न चक्षुषा" इत्यादि अनेक प्रमाणों से सिद्ध है कि ईश्वर चक्षुरादिगम्य नहीं। ये सब विषय आगे बहुत विस्तार से वर्णित रहेंगे । जिस किसी प्रकार से मनुष्यजन्म का प्रयोजन जान उसके अनुष्ठान के लिये सब कोई प्रयत्न-वान् हों यह आशा करते हैं ॥

इति श्रीमच्छिवशङ्कर–विरचित–बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यावपातनिका समाप्ता ॥